आदि ब्रह्मा

(१)

महाराजा नाभिराय और मरुदेवी से अलंकृत पवित्र स्थान में कल्पवृक्षों का अभाव देखकर और "इन दोनों के स्वयंभू ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे।" ऐसा अवधिज्ञान से जानकर स्वयं इंद्र अनेक उत्साही देवों के साथ वहाँ आते हैं और उसी स्थल को मध्य में करके एक सुन्दर नगरी की रचना कर देते हैं। चार गोपुर द्वार, परिखा, उद्यान आदि से सहित वह नगरी 'अरिभिः योद्धुं न शक्या इति अयोध्या' शत्रुओं से युद्ध करने में समर्थ न होने से 'अयोध्या' इस सार्थक नाम से सम्बोधित की जाती है। इस नगरी के मध्यभाग में इन्द्रपुरी के साथ स्पर्धा करने वाला ऐसा दिव्य राजमहल तैयार किया जाता है। सभी देव मिलकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभयोग और शुभ लग्न में वहाँ पुण्याहवाचन करते हैं। उसी समय अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराय अपनी महारानी

मरुदेवी के साथ उस महल में प्रवेश करते हैं। तभी इन्द्र उन दोनों का अभिषेक करके सम्मान करते हुए उनकी पूजा करते हैं।

'तीर्थंकर ऋषभदेव यहाँ अवतार लेने वाले हैं।' ऐसा समझकर इन्द्र कुबेर को बुलाकर आज्ञा देते हैं–

'हे धनपते! छह महीने बाद तीर्थंकरदेव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेने वाले हैं अतः तुम बड़े आदर से रत्नों की वर्षा करना शुरू कर दो।'

इन्द्र की आज्ञा पाते ही कुबेर बहुमूल्य उत्तम–उत्तम पंचवर्णी रत्नों की मोटी–मोटी धारा बरसाने लगता है। आँगन में बरसती हुई रत्नों की धारा ऐसी मालूम पड़ती है, मानों पुण्य की परम्परा ही बरस रही हो। तभी से कुबेर के द्वारा की जाने वाली रत्न और सुवर्ण की वर्षा से यह पृथ्वी 'हिरण्यगर्भा' इस नाम को प्राप्त हो गई है।

अनन्तर महारानी मरुदेवी राजमहल में गंगा की लहरों के समान श्वेत रेशमी चद्दर से सुशोभित कोमल शय्या पर शयन कर रही है। रात्री के पिछले प्रहर में वे सोलह स्वप्न देखती हैं। पुनः वे देखती हैं कि सुवर्ण के समान कांतिवाला एक सुन्दर बैल हमारे मुख में प्रवेश कर रहा है। तत्क्षण ही बजते हुए मांगलिक बाजों की ध्वनि से और बंदीजनों तथा सखियों द्वारा गाये गये प्राभातिक मंगलगान से रानी जाग्रत होकर उठकर महामंत्र का स्मरण करके अपने नेत्रों का उद्घाटन करती हैं। मंगल स्नान करके मांगलिक वस्त्राभूषण धारण कर वह अपने पतिदेव के समीप पहुँचकर उचित विनय से महाराजा नाभिराय का दर्शन करके उन्हीं के समीप अपने लिए रखे गये भद्रासन पर बैठ जाती हैं। पुनः प्रसन्नमुद्रा में महाराज से निवेदन करती हैं—

'हे देव! आज मैंने सोते हुए रात्रि के पिछले प्रहर में बहुत ही

आश्चर्यजनक उत्तम-उत्तम स्वप्न देखे हैं। पहले स्वप्न में ऐरावत हाथी, पुनः उत्तम बैल, सिंह, हाथियों द्वारा अभिषेक को प्राप्त होती हुई लक्ष्मी, दो मालाएं, चन्द्रमा, उगता हुआ सूर्य, मछलियों का युगल, जल से भरे दो कलश, कमलों से युक्त सरोवर, समुद्र, सिंहासन, स्वर्ग से आता हुआ विमान, नागेन्द्र भवन, रत्नों की राशि और बिना धुँए की अग्नि। इन सोलह स्वप्नों के बाद मैंने मेरे मुख में एक स्वर्ण वर्ण का बैल प्रवेश करते हुए देखा है। सो मैं इन सबका फल आपके श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ।'

महाराजा नाभिराय रानी के मुख से स्वप्नों को सुनकर तथा अपने दिव्य अवधिज्ञान से उनके फलों को जानकर कहते हैं-

'हे देवि! सुनो, सर्वप्रथम जो स्वप्न में तुमने ऐरावत हाथी देखा है उसका फल यह है कि तुम त्रिभुवन के गुरु ऐसे तीर्थंकर पुत्र को जन्म देवोगी। द्वितीय स्वप्न में उत्तम बैल के देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा। मालाओं के देखने से वह समीचीन धर्मतीर्थ का चलाने वाला होगा। अभिषेक को प्राप्त होती हुई लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत पर देवों के द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा। पूर्ण चन्द्रमा के देखने से वह समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा। दो कलश देखने से वह अनेक निधियों का स्वामी होगा। मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा। सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा। समुद्र के देखने से पूर्णज्ञानी केवली होगा। सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से जन्म

से ही वह अवधिज्ञानरूपी लोचनों से सहित होगा। चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से वह गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी ईन्धन को जलाने वाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में तीर्थंकर भगवान् अपना शरीर धारण करेंगे।'

महाराजा नाभिराय के मुख से ऐसा फल सुनकर रानी मरुदेवी हर्ष के अतिरेक से रोमांचित हो जाती हैं। उस समय उन्हें इतना आनन्द होता है कि मानों साक्षात् अभी ही तीर्थंकर शिशु को प्राप्त कर लिया हो। तदनन्तर आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में अहमिन्द्र का जीव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर माता मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हो जाता है। उसी समय अनेक चिन्हों से तीर्थंकर के 'गर्भावतार' को जानकर सौधर्म इन्द्र असंख्य देव-देवियों के साथ स्वर्ग से चलकर यहाँ मृत्यु लोक की अयोध्या नगरी में आ जाते हैं। नगरी की तीन प्रदक्षिणा देकर माता-पिता को नमस्कार करते हैं पुनः माता-पिता की नाना प्रकार से पूजा कर संगीत नृत्य आदि उत्सव करके गर्भकल्याणक महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

इस अवसर्पिणी काल के सुषमादुःषमा नामक तृतीय काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष के शेष रह जाने पर भगवान् ऋषभदेव का गर्भावतार कल्याणक मनाया गया है।

उसी समय से इन्द्र की आज्ञानुसार दिक्कुमारी देवियाँ वहाँ आकर दासियों के समान माता की सेवा करने लगती हैं।

(२)

मध्यलोक के बीचों बीच में जम्बूद्वीप नाम का पहला द्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तृत थाली के समान गोल आकार वाला है। इसमें पूर्व-पश्चिम लम्बे छह कुलाचल हैं जिनके नाम हैं —हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी। इन पर्वतों से विभाजित सात क्षेत्र हो जाते हैं। भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये उनके नाम हैं। सर्वप्रथम भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के १९० वाँ भाग अर्थात् ५२६, ६/१९ योजन है। आगे के पर्वत और क्षेत्र विदेह पर्यन्त इससे दूने-दूने प्रमाण वाले होते गये हैं। पुनः विदेह के बाद नील पर्वत से लेकर आधे-आधे प्रमाण वाले होते गये हैं। इन हिमवान आदि पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे छह सरोवर हैं। पद्म सरोवर के पूर्व-पश्चिम से गंगा-सिंधु नदी निकलती हैं जो कि भरत क्षेत्र में बहती हैं। इसी पद्म सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से रोहितास्या नदी निकल कर हैमवत क्षेत्र में चली जाती है तथा महापद्म सरोवर के दक्षिण तोरणद्वार से रोहित् नदी निकल कर हैमवत क्षेत्र में चली जाती है। इस प्रकार मध्य के सरोवरों से दो-दो नदियाँ एवं अंतिम शिखरी सरोवर से प्रथम सरोवर के समान तीन नदियाँ निकली हैं। ऐसी ये गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या हरित् -हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा नाम की चौदह महानदियाँ हैं जो कि भरत आदि सात क्षेत्रों में क्रम से दो-दो बहती हैं।

इन पद्म आदि सरोवरों में बहुत ही सुन्दर, सुवर्णमयी कमल खिल रहे हैं जो कि वनस्पतिकायिक न होकर पृथ्वीकायिक रत्नों से

निर्मित अकृत्रिम हैं। इन कमलों की कर्णिकाओं पर दिव्य भवन बने हुए हैं जिन पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ निवास करती हैं।

प्रथम पद्म सरोवर हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा और दश योजन गहरा है। इसके मध्य भाग में जो कमल है वह एक योजन विस्तृत है। इसके एक हजार ग्यारह पत्ते हैं। इसकी नाल ब्यालीस कोश ऊँची और एक कोश मोटी है यह वैडूर्य मणि से निर्मित है। इसका मृणाल तीन कोश मोटा रूप्यमय श्वेत वर्ण का है। इस कमल की नाल चालीस कोश तो जल के अंदर है और दो कोश जल के ऊपर है। कमल की कर्णिका दो कोश ऊँची और एक कोश चौड़ी है। इस कर्णिका के ऊपर श्री देवी का भवन बना हुआ है। यह भवन एक कोश लम्बा, आधा कोश चौड़ा और पौन कोश ऊँचा है। उसमें श्री देवी निवास करती हैं, इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है।

इसी पद्म सरोवर में मुख्य कमल से आधे प्रमाण वाले ऐसे एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह और भी कमल हैं जिन्हें परिवार कमल कहते हैं। इन कमलों के भवनों में श्री देवी के परिवार देव निवास करते हैं।

श्री देवी की अपेक्षा ह्री देवी के मुख्य कमल का विस्तार दूना है व परिवार कमलों की संख्या भी दूनी हो गई है। ह्री देवी की अपेक्षा धृति देवी की दूनी है व आगे कीर्ति देवी की धृति देवी के बराबर, बुद्धि देवी की ह्री देवी के बराबर व लक्ष्मी देवी की श्री देवी के बराबर है।

इन सरोवरों में जितने कमल हैं सभी में जिनमंदिर हैं, इसलिए जितने कमल हैं उतने ही जिनमंदिर में प्रत्येक १०८-१०८ जिन प्रतिमाएं

विराजमान हैं। ये देवियाँ भक्ति-भाव से सतत ही जिन प्रतिमाओं की पूजा, अर्चा किया करती हैं।

इन्द्र की आज्ञा से ये ही श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम वाली देवियाँ वहाँ से इस भरत क्षेत्र में आकर माता मरुदेवी की सेवा में तत्पर हो जाती हैं। वे देवियाँ सर्व प्रथम स्वर्ग से लाये हुए पवित्र पदार्थों द्वारा माता को विशुद्ध करती हैं। उन देवियों में कोई तो माता के आगे अष्ट मंगल द्रव्य धारण करती हैं, कोई ताम्बूल देती हैं, कोई स्नान कराती हैं और कोई वस्त्राभूषण पहनाती हैं। कोई भोजनशाला के काम में लग जाती हैं, कोई शय्या बिछाती हैं, कोई पैर दबाती हैं, कोई तरह-तरह की सुगंधित माला पहनाती हैं। कोई सुगंधित द्रव्यों का विलेपन करके माता के शरीर को सुवासित करती हैं।

पुनः एक देवी राजमहल का आंगन बुहारती है तो दूसरी गीले कपड़े से भूमि को स्वच्छ करती है, तीसरी चंदन के घोल का छिड़काव करती है, चौथी रत्नों के चूर्ण से रंगावली का विन्यास करती है, रंग-बिरंगे चौक पूरती है, पाँचवी दिव्य पुष्पगुच्छों का उपहार भेंट करती हैं।

इन देवियों के अतिरिक्त भी कितनी देवियाँ अपना शरीर छिपाकर दिव्य प्रभाव दिखलाती हुई योग्य सेवा क्रिया द्वारा निरन्तर माता की शुश्रूषा करती रहती हैं। कितनी ही देवियाँ अन्तर्हित होकर अपने दिव्य प्रभाव से माता के लिए माला, वस्त्र, आहार और आभूषण आदि देती हैं। जब माता मरुदेवी चलती हैं तब देवियाँ उनके वस्त्रों को कुछ ऊपर उठा लेती हैं, माता जब बैठती हैं तब देवियाँ आसन लाकर उपस्थित करती हैं और जब खड़ी होती हैं तब वे देवियाँ माता के चारों ओर से खड़ी होकर सेवा करती हैं। कितनी ही देवियाँ रात्रि के प्रारंभ काल में

राज-महल के अग्रभाग पर अतिशय देदीप्यमान मणियों के दीपक रखती हैं। कितनी ही देवियाँ दृष्टि दोष दूर करने के लिए उतारना उतारती हैं कितनी ही देवियाँ मन्त्राक्षरों द्वारा माता का रक्षा बन्धन करती हैं और कितनी ही देवियाँ नंगी तलवार हाथ में लेकर रात्रि के समय माता के निकट बैठकर पहरा देने का काम करती हैं।

कितनी ही देवियाँ मिलकर माता को जलक्रीड़ा के लिए प्रेरित करती हैं, कभी-कभी सभी मिलकर माता को वनक्रीड़ा के लिए ले जाती हैं तो कभी कथा गोष्ठी से माता का मन अनुरञ्जित करती हैं। कभी संगीत गोष्ठी का कार्यक्रम चलता है तो कभी नाना प्रकार के वादित्रों को बजाकर सारे अयोध्या नगर को मुखरित कर देती हैं। कभी-कभी वे देवियाँ भक्ति से विभोर हो माता के गुणों का गान करते हुए नृत्य कला का प्रदर्शन करती हैं। उस समय देवियाँ रंग-बिरंगे चौक के चारों ओर फूलों को बिखेरते हुए उस रंग भूमि में पुष्पांजलि क्षेपण करती हैं। कभी-कभी ये देवियाँ तीर्थंकर के गुणों का गान करते हुए वीणा बजाती हैं तो कोई देवी बांसुरी बजाकर माता का मनोरंजन करती है। इस प्रकार देवियों के द्वारा सेवा को प्राप्त हुई मरुदेवी ऐसी शोभायमान हो रही हैं कि मानों तीनों लोकों की लक्ष्मी ही एकरूपता को प्राप्त होकर मरुदेवी के रूप में स्थित हैं।

माता के गर्भ का नवमाँ महीना निकट आ जाने पर ये देवियाँ विशिष्ट-विशिष्ट काव्य गोष्ठियों के द्वारा माता को प्रसन्न करते हुए नाना प्रकार के गूढ़ प्रश्न करना प्रारंभ कर देती हैं। एक देवी कहती है —

कः पंजरमध्यास्ते.....कः परुषनिस्वनः।
कः प्रतिष्ठा जीवानां...कः पाठ्योक्षरच्युतः।।

हे मातः पिंजड़े में कौन रहता है? कठोर शब्द करने वाला कौन है? जीवों का आधार क्या है? और अक्षरच्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या है?

शुकः पंजरमध्यास्ते, काकः परुषनिस्वनः।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां, श्लोकः पाठ्योक्षरच्युतः।।

तब श्लोक के पाद में जो एक-एक अक्षर कम था उसकी पूर्ति करते हुए माता उसी श्लोक से उत्तर देती हैं। 'तोता पिंजड़े में रहता है। कौआ कठोर शब्द बोलने वाला है। जीवों का आधार लोक है और अक्षरच्युत होने पर भी श्लोक पढ़ने योग्य है।'

एक देवी प्रश्न करती है—

त्वत्तनौ काम्ब गम्भीरा, राज्ञो दोलंब आकुतः।
कीदृक् किं नु विगाढव्यं, त्वं च श्लाघ्या कथं सती।।

हे मातः! तुम्हारे शरीर में गंभीर क्या है? राजा नाभिराय की भुजाएँ कहाँ तक लम्बी हैं? कैसी और किस वस्तु में अवगाहना करनी चाहिए और हे पतिव्रते! तुम अधिक प्रशंसनीय किस प्रकार हो?"

तब माता एक ही वाक्य से चारों प्रश्नों का उत्तर दे देती हैं—

"नाभिराजानुगाधिकं नाभिः आजानु गाधि-कं, नाभिराजानुगा-अधिकं।" इस वाक्य के एक-एक पद से ही चारों प्रश्नों का उत्तर ऐसा है किः-

"हमारे शरीर में गंभीर (गहरी) नाभि है। महाराजा नाभिराय की भुजाएं आजानु—घुटनों तक लम्बी है। गाधि—कुछ गहरे कं—जल में अवगाहन करना चाहिए और नाभिराज की अनुगामिनी—आज्ञाकारिणी होने से अधिक मैं प्रशंसनीय हूँ।

एक देवी चित्रबद्ध श्लोक द्वारा माता की स्तुति करते हुए कहती है—

"मुदेऽस्तु वसुधारा ते, देवताशीस्तताम्बरा।
स्तुतादेशे नभाताधा वशीशे स्वस्वनस्तसु।।

जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषों में अतिशय श्रेष्ठ है ऐसी हे माता! देवताओं के आशीर्वाद से आकाश को व्याप्त करने वाली अत्यन्त सुशोभित जीवों की दरिद्रता को नष्ट करने वाली और नम्र होकर आकाश से पड़ती हुई यह रत्नों की वर्षा तुम्हारे आनन्द के लिए हो।"

यह अर्धभ्रम श्लोक है। इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण के अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरण में ही आ गये हैं।

मु	दे	स्तु	व	सु	धा	रा	ते
दे	व	ता	शी	स्त	ता	म्ब	रा
स्तु	ता	दे	शे	न	भा	ता	धा
व	शी	शे	स्व	स्व	न	स्त	सु

इस प्रकार अनेक अर्थों से गूढ़ और तत्त्व चर्चा के रहस्य से भरपूर ऐसे बहुत से प्रश्नों को देवियाँ कर रही हैं और माता बिना श्रम के सहजभाव से उन प्रश्नों का उत्तर दे रही हैं। यद्यपि माता स्वयं ही ज्ञान में कम नहीं हैं फिर भी मति, श्रुत और अवधि ऐसे तीन ज्ञान से युक्त बालक को उदर में धारण करने से वे और भी अधिक प्रतिभासंपन्न हो रही है। जैसे अनेक रत्नों से परिपूर्ण रत्न की खान अतिशय शोभा को प्राप्त होती है वैसे ही गुणरत्नों के पुंज ऐसे तीर्थंकर को उदर में धारण

करने से माता मरुदेवी भी अतिशय शोभा को प्राप्त हो रही है।

माता का उदर पहले के समान ही कृश है, न त्रिवली भंग हुई है, न उदर बढ़ा है। फिर भी अन्दर में गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। न माता का मुख सफेद हुआ है, न मुख का स्वाद ही फीका हुआ है और न साधारण गर्भवती महिलाओं के समान उन्हें कुछ क्लेश ही प्रतीत हो रहा है। दर्पण में पड़े प्रतिबिंब के समान माता के उदर में स्थित तीर्थंकर बालक माता को किंचित् भी पीड़ा नहीं पहुँचा रहा है, यही एक आश्चर्य की बात है। जैसे स्फटिक मणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है, उसी प्रकार से तीर्थंकर शिशु स्वयं में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न करते हुए माता के उदर में विराजमान हैं। अपने उदर में नाभिकमल के ऊपर तीर्थंकर ऋषभदेव को धारण करती हुई महारानी मरुदेवी साक्षात् लक्ष्मी के समान सुशोभित हो रही हैं।

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी भी अनेक अप्सराओं के साथ वहाँ आकर गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा कर रही है। माता मरुदेवी स्वयं किसी को नमस्कार नहीं करती हैं फिर भी संसार के समस्त लोग उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। इस विषय में अधिक कहने से क्या? यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय तीनों लोकों में वे ही एक प्रशंसनीय महिला हैं क्योंकि जगत् स्रष्टा अर्थात् भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने वाले ऐसे ऋषभदेव तीर्थंकर की वे जननी हैं इसलिए कहना चाहिए कि वे समस्त लोक की जननी हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ सतत जागरूक होकर अत्यन्त विनय और भक्ति से उनकी उपासना कर रही हैं और महाराजा नाभिराय भी स्वयं हर वक्त उन्हें प्रसन्न रखते हुए अपने समय को सुन्दरता से व्यतीत कर रहे हैं।

(३)

नव महीना पूर्ण हो जाने पर माता मरुदेवी पुत्ररत्न को जन्म देती हैं। जिस प्रकार प्रातःकाल के समय पूर्व दिशा से कमलों को विकसित करने वाले ऐसे देदीप्यमान सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सूर्योदय के समय ब्रह्मनामक महायोग में माता मरुदेवी से मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान तीर्थंकर के अवतार ऐसे महापुरुष का जन्म होता है। उसी समय समस्त दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं, आकाश निर्मल हो जाता है। स्वर्ग में देवों के यहाँ बिना बजाये बाजे बजने लगते हैं। कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टा की ध्वनि होने लगती है, ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद गूंजने लगता है, व्यंतरवासी देवों के यहाँ शंख की ध्वनि होने लगती है। इन्द्रों के तथा देवों के सिंहासन कंपायमान हो उठते हैं। उनके यहाँ कल्पवृक्षों से फूल बरसने लगते हैं। प्रजा में सर्वत्र आनन्द की लहर दौड़ने लगती है।

उस समय इन सारे आश्चर्यों के प्रगट होने से और स्वयं के आसन के हिल उठने से सौधर्म इन्द्र आश्चर्यचकित हो अपने अवधिज्ञान को लगाता है। उसे उसी क्षण विदित हो जाता है कि इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अंतर्गत अयोध्या नगरी में महाराजा नाभिराय की महारानी मरुदेवी ने तीन लोक के स्वामी ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया है।

सौधर्म इन्द्र उसी समय अपने आसन से उतर कर उस दिशा में सात पैंड चलकर शिर झुकाकर तीर्थंकर को परोक्षरूप में नमस्कार करते हैं। पुनः हर्ष से गद्गद् हो देवों को आज्ञा देते हैं कि —

'हे देवगण! भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड की अयोध्या नगरी में इस अवसर्पिणी के तृतीयकाल के अंत में युगादिपुरुष प्रथम तीर्थंकर का

जन्म हुआ है। अतः आप लोग शीघ्र ही सेना से सुसज्जित होकर अपने परिवार सहित वहाँ चलने के लिए तैयार हो जावो।" एक क्षणमात्र में ही सोलहस्वर्ग तक के सभी इन्द्र-इन्द्राणियाँ और असंख्य देवगण अपने-अपने स्थान से निकल पड़ते हैं।

सौधर्म इन्द्र का वाहनजाति का देव ऐरावत हाथी का रूप लेकर वहाँ आ जाता है। यह ऐरावत हाथी बहुत ही सुन्दर दिख रहा है। यह बहुत ही विशाल है, इसका रंग श्वेत है, इसके बत्तीस मुख हैं, प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत हैं, एक-एक दाँत पर एक-एक सरोवर है, एक-एक सरोवर में एक-एक कमलिनी है, एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल खिल रहे हैं, एक-एक कमल में बत्तीस-बत्तीस दल हैं और इन लम्बे-लम्बे प्रत्येक दलों पर बत्तीस-बत्तीस देव अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। इन देव अप्सराओं की सुन्दरता और उनकी नृत्यकला सामान्य स्त्रियों में असंभव है।

सौधर्म इन्द्र अपनी शची इन्दाणी के साथ इस ऐरावत हाथी पर सवार होकर स्वर्ग से प्रस्थान कर देता है। इन्द्र के सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल देव इन्द्र को चारों ओर से घेर कर चलने लगते हैं। अनीक जाति के देव हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पदाति और बैल इन सात प्रकार की सेना को सजाकर निकल पड़ते हैं। उस समय सभी इन्द्र अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर बहुत ही वैभव के साथ चल पड़ते हैं। असंख्य देव-देवियाँ साथ में चल रहे हैं। दुन्दुभि बाजों के गंभीर शब्दों से तथा देवों के जय-जय शब्दों के उच्चारण से आकाश मंडल में बड़ा भारी कोलाहल व्याप्त हो जाता है।

अर्धनिमिष मात्र में ही इन्द्रगण अयोध्या में आकर नीचे उतर जाते

हैं और महाराजा नाभिराय के आँगन में पहुँच जाते हैं। इन्द्र की आज्ञा से शची देवी जिनमाता के प्रसूतिगृह में प्रवेश करती हैं वहाँ जिनबालकरूपी सूर्य से युक्त माता मरुदेवी को देखकर बार-बार उनकी प्रदक्षिणा देकर प्रच्छन्नरूप से ही जिनमाता की स्तुति करती हैं—

'हे मातः! तुम तीनों लोकों की कल्याणकारी माता हो, तुम्हीं मंगल करने वाली हो, तुम्हीं महादेवी हो, तुम्हीं पुण्यवती हो और तुम्हीं यशस्विनी हो।"

इस प्रकार के नाना वर्णों से माता की स्तुति कर उन्हें बार-बार नमस्कार कर वह इन्द्राणी गुप्तरूप से ही माता को मायामयी निद्रा से सुलाकर उनके पास में दूसरा मायामयी बालक सुला देती है और आप स्वयं जिनबालक को दोनों हाथों से उठाकर गोद में ले लेती हैं। उस समय तीर्थंकर शिशु के शरीर का स्पर्श कर इन्द्राणी को इतना हर्ष होता है कि मानों उसे तीनों लोकों का समस्त ऐश्वर्य ही मिल गया हो। वह बार-बार बालक का मुख देखती है और उसके कोमल शरीर का स्पर्श करती है। उस समय उसके इतना पुण्य संचित हो जाता है कि आगे सदा-सदा के लिए उसकी स्त्रीपर्याय का छेद हो जाता है और वह एक[१] भवावतारिणी हो जाती है।

वह शची देवी जिन बालक को लेकर प्रसूतिगृह से बाहर आने लगती है। उस समय दिक्कुमारी देवियाँ हाथों में छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, सुप्रतिष्ठ, झारी, दर्पण और ताड़ का पंखा इन आठ मंगल द्रव्यों को लेकर भगवान् के आगे-आगे चलने लगती हैं। कोई देवियाँ मंगल

१. उस इन्द्राणी पर्याय से च्युत हो मनुष्य का शरीर प्राप्त कर नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

हेतु मंगल दीपक हाथ में लिए हुए हैं वे दीपक जिनबालक की दीप्ति के आगे फीके हो रहे हैं। इंद्राणी बाहर आकर जिनबालक को बड़े प्रेम से अपने पतिदेव के हाथों में सौंप देती हैं। उस समय इन्द्र भगवान् शिशु को गोद में लेकर परम आनन्द को प्राप्त होता हुआ गद्गदवाणी से भगवान् की स्तुति करने लगता है—

"हे देव! आप तीनों जगत् की एक दिव्य ज्योति हैं, हे देव! आप तीनों जगत् के गुरु हैं, हे देव! आप तीनों जगत् के विधाता हैं, हे देव! आप तीनों जगत् के स्वामी हैं, हे देव! केवलज्ञान रूपी सूर्य के लिए आप उदयाचल पर्वत हैं, भव्य कमलसमूह को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, हे नाथ! आप गुरुओं के भी गुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, हे नाथ! आपसे ही हम लोगों को ज्ञान प्राप्त होगा, इसलिए आपको नमस्कार हो।"

इस प्रकार अनेक स्तुति करके भगवान् को गोद में लिए हुए ऐरावत हाथी पर आरुढ़ हो जाता है और मेरुपर्वत पर चलने के लिए इशारा करता है। उसी क्षण ऐशान इन्द्र जिन-शिशु के ऊपर छत्र लगा लेता है। सानत्कुमार और माहेन्द्र ये दोनों तरफ से चँवर ढोरने लगते हैं। किन्नर देव वीणा आदि बजाते हुए भगवान् के जन्मोत्सव के गीत गाने लगते हैं, किन्नरियाँ नाचने लगती हैं। सभी देव जय-जयकार की ध्वनि से आकाश-पाताल को एक कर देते हैं। अनेक प्रकार के बाजे एक साथ बजने लगते हैं। सौधर्म इन्द्र के साथ-साथ असंख्य देवों का समूह चल पड़ता है और वह अर्धनिमिष मात्र में ही ज्योतिषपटल का उल्लंघन कर निन्यानवे हजार योजन ऊँचे सुमेरुपर्वत पर पहुँच जाता है।

(४)

इसी जम्बूद्वीप के बीच में विदेहक्षेत्र है उसके ठीक मध्य में सुमेरुपर्वत स्थित है। यह एक लाख योजन ऊँचा है। इसकी नींव पृथ्वी में एक हजार योजन है और इसकी चूलिका चालीस योजन की है अतः यह इस चित्रा भूमि से निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊँचा है। पृथ्वी तल पर इसकी चौड़ाई दस हजार योजन प्रमाण है। सुमेरु के चारों तरफ पृथ्वी तल पर ही भद्रसाल वन है जो कि पूर्व-पश्चिम में २२००० योजन विस्तृत है और दक्षिण-उत्तर में २५० योजन प्रमाण है। इस वन में पाँच सौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है जो कि अन्दर में पाँच सौ योजन तक कटनीरूप है। इस वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर सौमनस वन है जो पाँच सौ योजन की कटनीरूप है। इससे आगे छत्तीस हजार योजन ऊपर पांडुक वन है जो कि चार सौ चौरानवे योजन प्रमाण कटनीरूप है। इस पर्वत की चूलिका प्रारंभ में बारह योजन है और घटते हुए अग्रभाग में चार योजन मात्र रह गई है।

इस पर्वत के विस्तार में मूल से एक प्रदेश से ग्यारह प्रदेशों पर एक प्रदेश की हानि हुई है। इसी प्रकार ग्यारह अंगुल जाने पर एक अंगुल, ग्यारह हाथ जाने पर एक हाथ और ग्यारह योजन जाने पर एक योजन की हानि हुई है। अतः घटते-घटते यह पर्वत अग्रभाग में चार योजन मात्र विस्तृत रह गया है।

यह पर्वत नींव में १००० योजन तक वज्रमय है। पृथ्वीतल से लेकर ६१००० योजन तक नाना प्रकार के उत्तम पंचवर्णी रत्नमयी है, आगे ३८००० योजन तक सुवर्णमय है और चूलिका वैडूर्यमणिमय है। इस सुमेरु के भद्रसाल, नंदन, सौमनस और पांडुक इन चारों ही वनों में आम्र, अशोक, सप्तच्छद और चंपक आदि नाना प्रकार के वृक्ष सतत

फल और फूलों से शोभायमान रहते हैं। इन वनों में कितने ही कूट, देवभवन, स्वच्छ जल से भरी हुई बावड़ी आदि हैं। इन चारों ही वनों में पूर्व-दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में एक-एक जिन-मंदिर हैं जो कि अकृत्रिम हैं, अनादि निधन हैं और सुवर्ण, रत्न आदि उत्तम धातु के बने हुए हैं। प्रत्येक जिनमंदिर में १०८-१०८ जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। ऐसे इस सुमेरुपर्वत में सोलह जिन-मंदिर हैं। चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव-देवियाँ और विद्याधर हमेशा वहाँ जिन-प्रतिमाओं की वंदना के लिए आते रहते हैं और इन नंदन आदि वनों में विचरण करते हुए कहीं भी शिलापट्ट पर स्थित होकर अपनी आत्मा का ध्यान किया करते हैं।

पांडुक वन की विदिशाओं में चार शिलाएँ हैं। ईशान दिशा में पांडुकशिला, आग्नेय में पांडुकम्बला, नैऋत्य में रक्ताशिला और वायव्य में रक्तकंबला नाम वाली हैं। ये शिलाएं अर्धचन्द्राकार हैं सौ योजन लंबी, पचास योजन चौड़ी और आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर बीच में तीर्थंकर के जन्माभिषेक के लिए सिंहासन है और उसके आजू-बाजू सौधर्म-ईशान इन्द्र के लिए भद्रासन हैं जिन पर खड़े होकर ये दोनों जिन-बालक का जन्माभिषेक करते हैं। ये आसन गोल हैं।

पांडुकशिला पर हमारे इस भरत क्षेत्र के जन्मे हुए तीर्थंकरों का जन्माभिषेक उत्सव मनाया जाता है। पांडुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, रक्ताशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का और रक्तकम्बलाशिला पर पूर्वविदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। इन पांडुक आदि शिलाओं की देवगण सतत जल, चंदन, अक्षत आदि से पूजा किया करते हैं। इन पर छत्र, चमर, झारी, ठोना, दर्पण, कलश, ध्वजा और ताड़ का पंखा ये आठ मंगल द्रव्य सदा स्थित रहते हैं।

(५)

सौधर्म इन्द्र महामहोत्सव सहित बड़े प्रेम से देवों के साथ-साथ सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देता है। पुनः पांडुक शिला के सिंहासन पर जिनबालक को पूर्व दिशा में मुख करके विराजमान कर देता है। उस समय जिनेंद्रदेव की जन्मकल्याणक महिमा को देखने के लिए उत्सुक हुए सभी देव क्रम-क्रम से यथायोग्य स्थान पर बैठ जाते हैं। कहीं देवगण नृत्य में विभोर हो रहे हैं तो कहीं अर्घ्य समर्पण कर रहे हैं। कहीं देवियाँ मंगल गीत गा रही हैं तो कहीं वीणा, बांसुरी आदि बजाकर नृत्य कर रही हैं। उस समय इन्द्र की आज्ञा से वहाँ पर इतने बड़े मंडप की रचना की गई कि जिसमें तीनों लोकों के समस्त प्राणी परस्पर में बाधा न देते हुए बैठ सकें। यह एक तीर्थंकर बालक का ही प्रभाव समझना चाहिए। इस मंडप की सजावट अनुपम है। चारों तरफ कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालाएँ लटक रही हैं जिनकी सुगंध से सारा वातावरण सुगंधित हो रहा है।

स्वयं इन्द्र समस्त विधि संपन्न करने में लगा हुआ है। देवगण क्षीरसागर से कलश भर-भर कर ला रहे हैं। ये कलश आठ योजन लम्बे हैं, इनका पेट चार योजन चौड़ा है और मुख के पास की चौड़ाई एक योजन प्रमाण है। ये सब कलश स्वर्णमयी हैं। ये सब चंदन से चर्चित हैं, इनके कंठ भाग में मोतियों की मालाएं पहनाई गई हैं। इनमें क्षीरसागर का जल जो कि दूध के समान श्वेत है वह लबालब भरा हुआ है। इनके मुख पर खिले हुए कमल रखे हुए हैं अतः ये कलश बहुत ही सुन्दर दिख रहे हैं। ऐसे ये १००८ कलश जिनबालक के जन्माभिषेक हेतु सजाये गये हैं।

सर्वप्रथम सौधर्म इन्द्र मंत्रोच्चारण पूर्वक प्रथम कलश हाथ में उठाता है और ऐशान इन्द्र द्वितीय कलश उठाता है। दोनों इन्द्र एक साथ जिनबालक के मस्तक पर जलधारा छोड़ते हैं उसी समय एक साथ सर्व प्रकार के देवदुंदुभि आदि बाजे बजने लगते हैं और देवगण जय-जय शब्द बोलने लगते हैं। उस समय ऐसा लगता है कि मानों सारा विश्व शब्दमय ही हो गया है। पुनः सौधर्म इन्द्र सभी कलशों को एक साथ उठाने के लिए अपनी एक हजार भुजाएँ बना लेता है और सारे कलशों को एक साथ उठाकर ऐसा लगता है मानों भाजनांग जाति का एक विशाल कल्पवृक्ष ही आ गया हो। शेष सभी इन्द्र-इन्द्राणी और देवगण भी भगवान् के मस्तक पर अनेक कलशों से जलधारा छोड़ते हैं। आश्चर्य इसी बात का है कि तीर्थंकर के अवतार ये जन्मजात शिशु इतने-इतने बड़े कलशों के इतने जल को अपने मस्तक पर लीलामात्र से झेल लेते हैं चूँकि उनमें जन्मजात ही अतुल्यबल विद्यमान है। उस समय अगणित देव भगवान के मस्तक पर एक साथ जल की धारा छोड़ रहे हैं तब ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानों गंगा-सिंधु आदि महानदियाँ ही एक साथ आकर प्रभु के मस्तक पर गिर रही हैं और जिनबालक मेरु के समान ही स्थिर बैठे हुए हैं। उस समय अभिषेक की जलबिंदुएँ आकाश में ऊपर उछल कर पुनः चारों तरफ नीचे गिरती हुई झरनों के समान प्रतीत होती हैं।

भगवान् स्वयं पवित्र हैं, उन्होंने अपने पवित्र अंगों से उस जल को पवित्र कर दिया है और उस जल ने समस्त दिशाओं में फैलकर इस सारे संसार को पवित्र कर दिया है। वह अभिषेक जल का प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुए सुरदम्पत्तियों को दूर हटाता हुआ पाण्डुक वन में चारों तरफ फैल गया। पहले तो वह मेरुपर्वत के अच्छे-अच्छे वनों में

विश्राम करता है अर्थात् वन के भीतर वृक्षों के समूह से रुक जाने के कारण धीरे-धीरे चलता है परन्तु ज्यों ही वह वन के मार्ग को पार कर जाता है त्यों ही शीघ्र दूर तक फैल कर नीचे की ओर बहने लगता है। वह सुमेरु के नीचे चारों तरफ से बहता हुआ दुग्ध सदृश श्वेत जल उस समय ऐसा दिख रहा है कि मानों आकाशगंगा की धारा ही नीचे पड़ रही है। मेरुपर्वत के ऊपर से पड़ता हुआ वह जल का प्रवाह ऐसा शोभ रहा है कि मानों मेरुपर्वत को खड़े नाप से नाप ही रहा है।

"क्या यह अमृत की राशि है? अथवा स्फटिकमणि का पर्वत है? या कोई दूसरा चाँदी का पर्वत है?"

देवों को भी एक क्षण के लिए ऐसा वितर्क हो रहा था। वह अभिषेक जल का प्रवाह अपनी बिन्दुओं से ऊपर स्वर्ग तक पहुँच कर पुनः नीचे ज्योतिर्लोक तक आकर सब ओर वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। उस समय आकाश में फैले हुए तारागण अभिषेक जल में डूबकर बिखरे हुए मोतियों के समान सुशोभित हो रहे थे। सूर्यमण्डल तथा चन्द्रमण्डल भी जल प्रवाह में डूब कर दूसरे ही क्षण बाहर आ गये थे। इसके बाद विधि-विधान को जानने वाले सौधर्म इन्द्र सुगन्धित जल से जिनबालक का अभिषेक करते हुए सम्पूर्ण जगत् की शान्ति के लिए शान्ति मंत्र का उच्चारण करते हैं। अभिषेक की विधि सम्पन्न हो जाने पर सभी इन्द्र उस गन्धोदक को अपने-अपने मस्तक पर लगा कर फिर सारे शरीर में लगा लेते हैं और कुछ गन्धोदक अपने-अपने स्वर्ग में ले जाने के लिए रख लेते हैं।

अनन्तर सभी इन्द्र-इन्द्राणी और देव-देवियाँ मिल कर भगवान् की प्रदक्षिणा देते हैं पुनः जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य से भगवान् की पूजा करते हैं। वे इन्द्रादिगण सुमेरु के

चूड़ामणि ऐसे जिनबालक की पुनः-पुनः प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करते हैं। उस समय पवनकुमार देव भक्ति से प्रत्येक दिशाओं में मन्द सुगन्धित वायु चला देते हैं। मेघकुमार देव अमृत से मिश्रित मन्द-मन्द जल कण को बरसाने लगते हैं और सभी देव कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा करने लगते हैं। देवों के द्वारा बजाये गये दुंदुभि बाजे तीनों लोकों को कल्याण की सूचना करते हुए ही गंभीर ध्वनि करने लगते हैं।

जिनका अभिषेक कराने वाला स्वयं इन्द्र है, स्नान करने का सिंहासन सुमेरुपर्वत है, नृत्य करते हुए मंगल गीत गाने वाली देवियाँ हैं, परिचर्या हेतु किंकर सभी देवगण हैं और स्नान कराने का कटाह (टब) क्षीरसमुद्र है ऐसे पवित्रात्मा जिनेन्द्रदेव समस्त जगत् को पवित्र करने वाले होवें।

(६)

इंद्रों द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव का अभिषेक महोत्सव संपन्न हो जाने पर सौधर्म इन्द्र की शची इन्द्राणी हर्ष के साथ जगद्गुरु तीर्थंकर शिशु को अलंकार पहनाने के लिए अपने गोद में ले लेती हैं। स्नान के अनंतर ऋषभदेव के शरीर में लगे हुए जलकणों को वस्त्र से पोंछते हुए भगवान् के मुख पर अपने निकटवर्ती कटाक्षों की छाया को जलकण समझते हुए पुनः पुनः पोंछने का प्रयास करती हैं। अनंतर ऋषभदेव के शरीर में चन्दनादि सुगन्धित गंध का विलेपन करके उन्हें स्वर्ग से लाये हुए सुन्दर वस्त्र पहनाती हैं। जगत् के तिलक ऐसे ऋषभदेव के ललाट में तिलक लगाती हैं, मस्तक पर कल्पवृक्ष के पुष्पों का मुकुट पहनाती हैं, जगत् के चूड़ामणि के मस्तक पर चूड़ामणि रत्न रख देती है, नेत्रों में अंजन लगाती हैं, ऋषभदेव के दोनों कान बिना बेधन किये ही छिद्रसहित थे, अतः उनके दोनों कानों में इन्द्राणी मणिमय कुण्डल पहनाती हैं,

मणियों का हार पहनाकर कंठ की शोभा को द्विगुणित कर देती हैं, दोनों भुजाओं में बाजूबन्द, कड़ा, अनन्त पहनाती हैं तब ऐसा मालूम होता है कि मानों उनकी दोनों भुजाएं कल्पवृक्ष की दो शाखाएं ही हों, छोटी-छोटी घंटियाँ जिसमें बज रही हैं ऐसी मणिमयी करधनी कमर में पहना देती हैं, गोमुख के आकार वाले मणियों से शब्दायमान ऐसे सुन्दर आभूषण से चरणों की आभा द्विगुणित कर देती हैं। इन्द्राणी की गोद में बैठे हुए तथा सर्व अलंकारों से अलंकृत जिनबालक इतने अधिक सुन्दर दिख रहे हैं कि उस समय सौधर्मइन्द्र भगवान् के रूप को देखते हुए भक्ति से विभोर हो जाता है। जब वह टिमकार रहित एकटक देखते हुए भी तृप्त नहीं होता है तब अपनी विक्रिया से हजार नेत्र बनाकर एकटक देखता ही रह जाता है पुनः भक्ति रस में डूबा हुआ वह इन्द्र अन्य अनेक देवों के साथ प्रभु की स्तुति प्रारंभ करता है —

"हे देव! हम लोगों को परम आनन्द देने के लिए ही आप उदित हुए हैं, क्या सूर्य के उदित हुए बिना कभी कमलों का समूह प्रबोध को प्राप्त हो सकता है? हे देव! मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूप में पड़े हुए इन संसारी-जीवों के उद्धार करने की इच्छा से आप धर्मरूपी हाथ का सहारा देने वाले हो। हे देव! आप देवों के आदिदेव हैं, तीनों जगत् के आदिगुरु हैं, जगत् के आदि विधाता हैं और धर्म के आदिनायक हैं। हे देव! आप ही जगत् के स्वामी हैं। आप ही जगत् के पिता हैं और आप ही जगत् के रक्षक हैं। हे नाथ! संसाररूपी रोग से दुःखी ये प्राणी अमृत के समान आपके वचनरूपी औषधि के द्वारा निरोग होकर आपसे परम कल्याण को प्राप्त होंगे।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण क्लेशों को नष्ट कर इस तीर्थंकर रूप परमपद को प्राप्त हुए हैं अतएव आप ही पवित्र हैं, आप ही दूसरों को

पवित्र करने वाले हैं और आप ही अविनाशी उत्कृष्ट ज्योतिः स्वरूप हैं। हे देव! यद्यपि आप बिना स्नान किये ही पवित्र हैं तथापि मेरुपर्वत पर जो आपका अभिषेक किया गया है वह पापों से मलिन हुए इस जगत् को पवित्र करने के लिए ही किया गया है। हे देव! आपके जन्माभिषेक से केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुए हैं, किन्तु यह मेरुपर्वत, क्षीर समुद्र तथा उन दोनों के वन, उपवन और जल भी पवित्र हो गये हैं।

हे देव! यद्यपि आप बिना लेप लगाये ही सुगन्धित हैं और बिना आभूषण पहने ही सुन्दर हैं तथापि हम भक्तों ने भक्तिवश ही सुगन्धित द्रव्यों के लेप और आभूषणों से आपकी पूजा की है। हे भगवन् ! आप तेजस्वी हैं, संसार में सबसे अधिक तेज को धारण करते हुए प्रगट हुए हैं, इसलिए ऐसे मालूम होते हैं मानों मेरुपर्वत के गर्भ से संसार का एक शिखामणि-सूर्य ही उदित हुआ हो। हे देव! स्वर्गावतरण के समय आप 'सद्योजात' नाम को धारण कर रहे थे। 'अच्युत'-अविनाशी आप ही हैं और आज सुन्दरता को धारण करते हुए 'कामदेव' इस नाम को आपने ही सार्थक किया है अर्थात् ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं और महेश हैं। जिस प्रकार शुद्ध खान से निकला हुआ मणि संस्कार के योग से देदीप्यमान हो जाता है उसी प्रकार आप भी जन्माभिषेक रूपी जातकर्म संस्कार से अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं। हे देव! विस्तार से आपकी स्तुति करने वाले योगिराज आपको पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि मानते हैं। हे नाथ! आपकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपके गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप ही जन्म-मरण के भय को नष्ट करने वाले हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो।

हे नाथ! आप क्षमा-पृथ्वी के समान क्षमा-शान्ति गुण को ही प्रधान

रूप से धारण करते हैं इसलिए क्षमा-पृथ्वीरूप को धारण करने वाले आपके लिए नमस्कार हो। आप जल के समान जगत् को आनन्दित करने वाले हैं इसलिए जलरूप धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप वायु के समान वेगशाली हैं और मोहरूपी महावृक्ष को उखाड़ने वाले हैं इसलिए वायुरूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले हैं, आपका शरीर कुछ लालिमा लिए हुए पीतवर्ण का है इसलिए अग्निरूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप आकाश की तरह पापरूपी धूलि से रहित हैं, विभु हैं, व्यापक हैं, अनादि अनन्त हैं, निर्विकार हैं, सबके रक्षक हैं इसलिए आकाश रूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप याजक के समान ध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी साकल्य का होम करने वाले हैं, इसलिए याजक रूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप चन्द्रमा के समान निर्वाण (मोक्ष अथवा आनन्द) को देने वाले हैं इसलिए चन्द्ररूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। आप अनन्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानरूपी सूर्य से सर्वथा अभिन्न रहते हैं इसलिए सूर्यरूप को धारण करने वाले आपको नमस्कार हो। हे नाथ! इस प्रकार आप पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, याजक, चन्द्र और सूर्य इन आठ मूर्तियों को धारण करने वाले महादेव हैं इसलिए आपको नमस्कार हो।[१]

हे नाथ! आप 'महाबल'—अतुल्यबल के धारक हैं अथवा इस भव से पूर्व दशवें भव में महाबल विद्याधर थे इसलिए आपको नमस्कार

१. वैदिक सम्प्रदाय में महादेव की पृथ्वी, जल, वायु आदि आठ मूतियाँ मानी हैं। यहाँ आचार्य श्री जिनसेन भगवान ऋषभदेव को ही इन आठ मूर्तिरूप महादेव मानकर नमस्कार किया है।

हो। आप 'ललितांग' हैं—सुन्दर शरीर को धारण करने वाले हैं अथवा नवमें भव पूर्व ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव थे, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप धर्मरूपी तीर्थ को प्रवर्ताने वाले ऐश्वर्यशाली 'वज्रजंघ' हैं—वज्र के समान मजबूत जंघाओं को धारण करने वाले हैं अथवा आठवें भवपूर्व 'वज्रजंघ' नाम के राजा थे, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप 'आर्य'—पूज्य हैं अथवा सातवें भवपूर्व भोगभूमिज आर्य थे इसलिए आपको नमस्कार हो। आप दिव्य 'श्रीधर'—उत्तम शोभा से युक्त हैं अथवा छठे भवपूर्व 'श्रीधर' नाम के देव थे इसलिए आपको नमस्कार हो। आप 'सुविधि'—उत्तम भाग्यशाली हैं अथवा पाँचवे भवपूर्व सुविधि नाम के राजा थे इसलिए आपको नमस्कार हो। आप 'अच्युतेन्द्र'—अविनाशी स्वामी हैं अथवा चौथे भवपूर्व अच्युत स्वर्ग के इन्द्र थे, ऐसे आपके लिए नमस्कार हो। आप 'वज्रनाभि'—वज्र के समान नाभि और सारे शरीर को धारण करने वाले हैं अथवा तीसरे भवपूर्व वज्रनाभि नाम के चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो। आप 'सर्वार्थसिद्धि के नाथ' अर्थात् सब पदार्थों की सिद्धि के स्वामी हैं अथवा दूसरे भवपूर्व आप सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिंद्र थे ऐसे आपको नमस्कार हो। हे नाथ! आप 'दशावतारचरम' अर्थात् सांसारिक पर्यायों में अंतिम अथवा ऊपर कहे हुए महाबल आदि दश अवतारों में अंतिम शरीर को धारण करने वाले नाभिराज के पुत्र 'ऋषभदेव' हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो[१]।

१. इस प्रकार श्लेषालंकार का आश्रय लेकर आचार्य ने भगवान् ऋषभदेव के दश अवतारों का वर्णन किया है। अन्य सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण विष्णु के दश अवतार माने हैं। यहाँ आचार्य ने तीर्थंकर ऋषभदेव के भी दश अवतार बतलाकर नमस्कार करते हुए उन्हें विष्णु सिद्ध किया है।

हे देव! इस प्रकार परम आनन्द से युक्त होकर आपकी स्तुति करते हुए हम लोग इसी फल की आशा करते हैं कि हम लोगों की भक्ति सतत आप में ही बनी रहे, बस! हमें अन्य किसी के पास जाने से अब कुछ प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार हर्ष से गद्गद होकर सौधर्म इन्द्र, उनके साथ अन्य इन्द्र तथा देवगण सभी मिलकर जिनबालक की स्तुति करके बार-बार नमस्कार करते हैं पुनः अयोध्या की ओर प्रस्थान करने के लिए तैयारी करते हैं। पूर्ववत् दुंदुभि बाजे बजने लगते हैं, सौधर्म इन्द्र जिनबालक को ऐरावत हाथी के कंधे पर विराजमान करके आप इन्द्राणी सहित उसी पर सवार होकर वहाँ से प्रस्थान कर देता है। सभी देवगण जय-जयकार के नारों से आकाश मण्डल को गुञ्जायमान कर देते हैं, बड़े भारी कोलाहल, गीत, नृत्य और वाद्य के साथ-साथ आकाशरूपी आँगन को उलंघन कर क्षणमात्र में वे अयोध्या नगरी में आ जाते हैं।

(७)

महाराजा नाभिराय के श्रीगृह के आँगन में देवों ने अतिशय सुन्दर मण्डप रचना करके मध्य में उच्चासन पर सिंहासन रख दिया था। सौधर्म इन्द्र जिनबालक को गोद में लिए हुए वहाँ माता मरुदेवी के महल में प्रवेश कर मध्य में रचित दिव्य सिंहासन पर पूर्वाभिमुख करके ऋषभदेव को विराजमान कर देता है। देवों के जय-जयकार के साथ दुंदुभि बाजों का गंभीर घोष होने लगता है। महाराजा नाभिराय अपने पुत्र को देखकर एकदम रोमांचित हो उठते हैं और एकटक देखते ही रह जाते हैं। इन्द्राणी द्वारा मायामयी निद्रा दूरकर जगाई गई माता मरुदेवी भी वहाँ आकर अपने उचित आसन पर विराजमान हो जाती हैं और अपने पुत्ररत्न

के मुख को देखकर अतिशय हर्ष को प्राप्त हो जाती हैं। तत्पश्चात् सौधर्मइन्द्र अन्य इन्द्रों और देव-देवियों के साथ उन जगत् पूज्य माता-पिता को बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण समर्पित कर विधिवत् पूजा करता है। पुनः वह इन्द्र उन दोनों की स्तुति करता है —

"हे पूज्य! आप दम्पती महापुण्यशाली हैं और धन्य हैं क्योंकि समस्त लोक में श्रेष्ठ ऐसा तीर्थंकर पुत्र आपको ही हुआ है। आप दोनों की बराबरी करने वाला इस लोक में अन्य कोई भी नहीं है, क्योंकि आप जगत् के गुरु के भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं। हे नाभिराज! आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और हे माता मरुदेवि! आप पूर्वदिशा हैं क्योंकि वह पुत्ररूपी परमज्योति आप से ही उत्पन्न हुई है। आज आपका यह घर हम लोगों के लिए जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत्पिता के भी माता-पिता हैं अतः हम लोगों के लिए सदा पूज्य हैं।"

इस प्रकार इन्द्र माता-पिता की स्तुति कर उनके हाथों में जिनबालक को सौंप देता है। पुनः तीर्थंकर को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ पर जन्माभिषेक करने की सारी विधि का वर्णन करता है। माता-पिता अपने जन्मजात पुत्र का ऐसा पुण्य प्रताप सुनते हुए हर्ष और आश्चर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। अनन्तर इन्द्र माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर अयोध्यावासी लोगों के साथ-साथ बड़े वैभव सहित पुनरपि जिनबालक का जन्मोत्सव मनाता है।

उस समय अयोध्या नगरी की शोभा स्वर्ग से भी बढ़कर अनुपम दिख रही है। सर्वत्र पताकाओं की पंक्तियाँ लहरा रही हैं, नगर निवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओं के समान वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो मंगलगीत गा रही हैं, धूप की सुगन्धि से सारा दिग्मंडल व्याप्त हो गया है, नगर की सब

गलियों में रत्नचूर्ण से चौक बनाये गये हैं। नगर के गोपुर और दरवाजों पर बँधे हुए तोरण अपनी शोभा से जन-जन का मन आकृष्ट कर रहे हैं। समस्त पुरवासी लोग गीत, नृत्य तथा वादित्र आदि अन्य अनेक मंगल कार्यों में तन्मय हो रहे हैं। उस समय उस नगर में न तो कोई दीन ही रहा है, न निर्धन ही और न कोई ऐसा ही रहा है कि जिसकी इच्छायें पूर्ण नहीं हुई हों और आनन्द से हर्षातिरेक नहीं हो रहा हो। इस तरह सारे संसार को आनन्दित करने वाला महोत्सव जैसा मेरुपर्वत पर हुआ था वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अयोध्या नगर में हो रहा है। उन नगर निवासियों का आनन्द देखकर अपने आनन्द को प्रकाशित करते हुए इन्द्र 'आनन्द' नामक नाटक करने के लिए उद्यमशील होता है।

ज्यों ही इन्द्र नृत्य करना प्रारंभ करता है त्यों ही संगीत विद्या में कुशल गन्धर्वदेव अपने बाजे वगैरह ठीक कर विस्तार के साथ संगीत प्रारंभ कर देते हैं। उस समय अनेक बाजे बज रहे हैं, तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथ्वी ही इन्द्र की रंगभूमि है, स्वयं सौधर्म इन्द्र प्रधान ही नृत्य करने वाला है, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक हैं, जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव हैं और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द रूप अपवर्ग की प्राप्ति होना ही उसका फल है। इन ऊपर कही हुई वस्तुओं में से एक-एक वस्तु भी सज्जन पुरुषों को प्रीति उत्पन्न करने वाली है फिर पुण्योदय से सभी वस्तुओं का समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या?

उस समय इन्द्र पहले त्रिवर्ग — धर्म, अर्थ, कामरूप फल को सिद्ध करने वाला गर्भावतार सम्बन्धी नाटक करता है। पुनः जन्माभिषेक

संबंधी नाटक करना प्रारंभ करता है। तदनंतर तीर्थंकर के महाबल आदि दशावतार संबंधी वृत्तान्त को लेकर अनेक रूप दिखलाने वाले अन्य अनेक नाटक करता है। इन नाटकों का प्रयोग करते समय इन्द्र सबसे पहले पापों का नाश करने के लिए मंगलाचरण करता है। पुनः सावधान होकर पूर्वरंग का प्रारंभ करता है। पूर्वरंग प्रारंभ करते समय इन्द्र पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारंभ करता है। उसके प्रारंभ में वह नान्दी मंगल करता है फिर नान्दी मंगल कर चुकने के बाद रंगभूमि में प्रवेश करता है। उस समय नाट्यशास्त्र के अवतार को जानने वाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करने वाला वह इन्द्र बहुत ही सुन्दर दिख रहा है। वह रंगभूमि में उतरते ही पहले अपने दोनों हाथ कमर पर रख कर चारों ओर से देवों से घिरा हुआ ऐसा दिखता है कि मानों वातवलयों से घिरा हुआ लोक स्कंध ही हो। वह इन्द्र ताल के साथ-साथ पैर रखकर रंगभूमि के चारों ओर घूमता हुआ ऐसा लगता है मानो पृथ्वी को नाप ही रहा हो। जब वह पुष्पाञ्जलि बिखेर कर ताण्डव नृत्य करना शुरू करता है तब उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए देवगण आकाश से पुष्प बरसाने लगते हैं। उसी समय पुष्कर आदि करोड़ों प्रकार के बाजे एक साथ बजने लगते हैं फिर भी वे सभी वाद्य लय से लय मिलाकर बज रहे हैं। वीणा बजाती हुई किन्नरियाँ भगवान् के गुणों के गीत गा रही हैं।

नृत्य करते हुए इन्द्र अपनी विक्रिया से हजारों भुजाएँ बना लेता है तब पृथ्वी हिलने लगती है और समुद्र लहराने लगता है मानों आनन्द से थिरक-थिरक कर नाच ही रहा है। नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण भर में एक रह जाता है, पुनः अनेक हो जाता है, क्षण भर में पास में दिखाई देता है पुनः बहुत दूर पहुँच जाता है, क्षण भर में आकाश में दिखाई देता

है तत्क्षण ही जमीन पर आ जाता है। विक्रिया से इस प्रकार नृत्य करता हुआ इन्द्र ऐसा लगता है कि मानों इन्द्रजाल का खेल ही दिखा रहा हो।

इन्द्र की हजारों भुजाओं पर मंद-मंद हास्य करती हुई देव अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। भुजाओं पर स्थित होकर नृत्य करती हुई देव नर्तकियाँ वर्द्धमान लय के साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्य के साथ और कितनी ही देवांगनाएँ अनेक प्रकार के अभिनय दिखलाते हुए नृत्य कर रही हैं। नृत्य के समय फिरकी लेता हुआ इन्द्र हर्ष से विभोर होकर विक्रिया से अपने हजार नेत्र बना लेता है। कितनी ही देवियाँ इन्द्र के हाथों की अंगुलियों पर अपने चरण पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही हैं उस समय ऐसा लगता है कि मानों ये देवियाँ सूची नृत्य (सुई की नोक पर ही नृत्य) कर रही हों। अपने भुजदण्डों पर देव-नर्तकियों को नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा दिख रहा है मानों किसी यंत्र की पटियों पर लकड़ी की पुतलियों को नचाता हुआ कोई यान्त्रिक — यंत्र चलाने वाला ही हो। कभी वह इन्द्र अपनी एक ओर की भुजाओं पर देवों को नृत्य कराता है और दूसरी ओर की भुजाओं पर देवियों को नृत्य कराता हुआ अद्भुत ही प्रतीत हो रहा है।

उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्धत रस से भरा हुआ ताण्डव नृत्य हो रहा है, दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगों से भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रस वाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य को दिखलाता हुआ इन्द्र लोगों में अतिशय प्रेम उत्पन्न कर रहा है। ऐसा आनन्द नाम का नृत्य बड़े सज-धज के साथ सम्पन्न करके इन्द्र अपनी विक्रिया को समेट कर जिनबालक के सन्मुख हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। पुनः-

"ये भगवान् वृष — श्रेष्ठ धर्म से सहित हैं"।

ऐसा कहते हुए इन्द्र प्रभु का 'वृषभस्वामी' यह नामकरण करता है। पुनः 'पुरुदेव' इस नाम से सम्बोधित करते हुए दूसरा नामकरण भी कर देता है। उसी समय सभी देवगण एक साथ-

"तीर्थंकर ऋषभदेव की जय हो, पुरुदेव की जय हो, जय हो, जय हो।"

ऐसे जय जयकार करने लगते हैं। अनन्तर माता-पिता को प्रसन्न करके वह इन्द्र जिनबालक की सेवा के लिए अर्थात् स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, शरीर संस्कार करने और क्रीड़ा कराने आदि के लिए अनेक देवियों को धाय बनाकर नियुक्त कर देता है। पुनः सौधर्म इन्द्र अन्य देव देवियों के साथ पिता नाभिराय से आज्ञा लेकर अपने स्थान को चला जाता है।

(८)

जिनबालक ऋषभदेव को रत्नों के बने पालने में झुलाती हुई देवांगनाएं तीर्थंकर के पुण्य गीत को गा रही हैं और फूली नहीं समा रही हैं। वे देवांगनाएं धायरूप में बालक को कभी गोद में लेकर प्यार करती हैं, कभी हँसाती हैं तो कभी माता की गोद में दे देती हैं, पुनः दूसरी देवी आकर झट से अपनी गोद में ले लेती हैं। प्रजा के लोग दिन पर दिन दर्शन के लिए वहाँ आते रहते हैं और बालक को यदि गोद में ले पाते हैं तो अपने आप को बहुत ही पुण्यशाली समझ लेते हैं। कितनी ही महिलाएं, बालिकाएं और नववधुएं आकर बालक को गोद में ले-लेकर खिलाती रहती हैं। जिनबालक के मुखरूपी चन्द्रमा पर मन्द हास्यरूपी चाँदनी सदैव प्रगट रहती हैं, उससे माता-पिता का सन्तोषरूपी समुद्र

अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। ऋषभदेव दूज के चन्द्रमा के समान शरीर की वृद्धि के साथ-साथ अनेक गुणों से भी वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।

धीरे-धीरे उनके मुख कमल से क्रम-क्रम से अस्पष्टवाणी प्रगट होने लगती है जिसे सुन-सुनकर माता-पिता व प्रजा के लोग अत्यधिक आनन्द का अनुभव करते हुए ऐसा चाहते हैं कि हम लोग सदा प्रभु की वाणी सुनते ही रहें। इन्द्रनील मणियों की भूमि पर धीरे-धीरे गिरते-पड़ते चलते हुए बालक ऋषभदेव बहुत ही सुन्दर लगते हैं। कभी देवियाँ हाथ की अँगुली का सहारा देती हैं और कभी भगवान् स्वयं चलना चाहते हैं तब देवियाँ अंगुली छोड़ देती हैं तथा बालक की डगमगाती हुई चाल को देखकर हँसने लगती हैं। तब बालक भी खिलखिलाकर हँसने लगता है। बालक को हँसते हुए देखकर माता मरुदेवी हर्ष के अतिरेक से रोमांचित हो जाती हैं।

बालक ऋषभदेव धीरे-धीरे मणियों की भूमि पर बैठने लगते हैं और देव बालकों के साथ रत्नों की धूलि में क्रीड़ा करने लगते हैं। इन्द्र की आज्ञा से बहुत से देव स्वर्ग से आकर जिनबालक की अवस्था के अनुसार अपने-अपने शरीर को बनाकर बालक के साथ क्रीड़ा करते हुए बहुत ही सुख का अनुभव करते हैं। जिनबालक अपनी बाल्य अवस्था को पार कर कौमार अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। उनके साथ-साथ ही देवगण वैसा ही शरीर बनाकर उनके साथ खेला करते हैं। बालक का मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मनोहर अवलोकन और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना यह सब संसार की प्रीति को बढ़ा रहे हैं। बालक के शरीर के साथ-साथ उनकी कलायें वृद्धिगत होती जा रही हैं। ऋषभदेव बालक

होते हुए भी उनमें बालसुलभ चेष्टाएँ न होकर प्रौढ़ता और गंभीरता विद्यमान है।

बालक ऋषभदेव गर्भ से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान से समन्वित हैं। इसलिए वे समस्त विद्याओं के ईश्वर हैं क्योंकि जन्मान्तर का संस्कार स्मरण शक्ति को सदैव पुष्ट रखता है यही कारण है कि वे समस्त लोक के गुरु हैं उनका कोई भी गुरु नहीं बन सकता है। वे प्रभु बिना शिक्षा के ही समस्त कलाओं में प्रशंसनीय कुशलता को, समस्त विद्याओं में प्रशंसनीय चतुराई को और समस्त क्रियाओं में प्रशंसनीय कर्मठता को प्राप्त हो चुके हैं। वे प्रभु सरस्वती के एकमात्र स्वामी हैं इसलिए समस्त वाङ्मय (शास्त्र) इन्हें प्रत्यक्ष हो गये हैं। ये समस्त प्राचीन इतिहास के ज्ञाता हैं, उत्तम कवि हैं, वक्ता हैं, गमक हैं और सबको प्रिय हैं, क्योंकि कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि आदि विद्यायें उन्हें स्वभाव से प्राप्त हो गई हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन ने उनके मन के समस्त दोषों को दूर कर दिया है और स्वभाव से प्राप्त हुई सरस्वती ने उनके वचन संबंधी समस्त दोषों का अपहरण कर लिया है। उनके परिणाम बहुत ही शान्त हैं, आठ वर्ष की उम्र में बिना गुरु के ही पाँच अणुव्रत रूप चर्या प्रगट हो चुकी है अतः उनकी सारी चेष्टाएँ जगत का हित करने वाली ही होती हैं।

तीर्थंकर ऋषभदेव कभी तो, जिनका पूर्वभव में अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपिविद्या तथा संगीतादि कला शास्त्रों का स्वयं अभ्यास करते हैं और कभी दूसरों को कराते हैं। कभी छन्द शास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्या आदि का विवेचन और कभी चित्र खींचना आदि कला शास्त्रों का मनन करते हैं। कभी वैयाकरणों

के साथ व्याकरण संबंधी चर्चा करते हैं, कभी कवियों के साथ काव्य-चर्चा, कभी अधिक बोलने वाले वादियों के साथ वाद करते हैं। कभी गीतगोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वादित्रगोष्ठी और वीणागोष्ठी के द्वारा विद्वानों का मनोरंजन करते हैं।

कभी मयूरों का रूप धरकर नृत्य करते हुए देवकिंकरों को लय के अनुसार हाथ की ताल दे देकर नृत्य कराते हैं। कभी विक्रिया शक्ति से तोते के रूपधारी देवकुमारों को स्पष्ट और मधुर अक्षरों से श्लोक पढ़ाते हैं। कभी हंसरूपधारी देवों को अपने हाथ से मृणाल के टुकड़े देकर सम्मानित करते हैं। कभी हाथी का रूप धरकर क्रीड़ा करने वाले देवों के साथ आनन्द से क्रीड़ा करते हैं। कभी मुर्गों का रूप धारण कर रत्नमयी जमीन में पड़ते हुए अपने प्रतिबिंबों के साथ ही युद्ध करने के इच्छुक देवों को देखते हुए उन पर प्रेम से हाथ फेरते हैं। कभी विक्रिया शक्ति से मल्ल का रूप धारण कर मात्र क्रीड़ा करने के लिए युद्ध के इच्छुक देवों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। कभी क्रौंच और सारस पक्षियों के रूपधारी देवों का उच्च स्वर-क्रेंकार शब्द सुनते हुए उन पर हाथ फिराते हैं। कभी माला आदि आभूषणों से अलंकृत देव बालकों को दण्ड क्रीड़ा (पड़गर का खेल) में लगाकर नचाते हैं। कभी घर के आँगन में देवांगनाओं द्वारा बनायी गयी रत्नचूर्ण की चित्रावली का निरीक्षण करते हैं।

कभी वे देव बालक एक साथ मिलकर गद्य में और पद्य में उनके निर्मल यश का बखान करते हैं उसे प्रभु सुनते हुए मुस्करा देते हैं। कभी उनके दर्शनों के लिए प्रजा के लोग आ जाते हैं तब प्रभु मधुर और स्नेह युक्त दृष्टि से उनका अवलोकन करके किन्हीं के साथ मन्द हास्य से सहित सम्भाषण करके उन्हें प्रसन्न कर देते हैं। उस समय प्रजा को भी

ऐसा लगता है मानों हमारा राज्याभिषेक ही हो गया हो। कभी देव बालकों के साथ कृत्रिम बावड़ियों में जल क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं तो कभी सरयू नदी में प्रवेश कर लकड़ी के बने हुए यंत्रों से जलक्रीड़ा करते हैं।

जलक्रीड़ा के समय मेघकुमार जाति के देव भक्ति से धारा-गृह (फव्वारा) की रचना करके चारों ओर जल की धारा छोड़ते हुए प्रभु की सेवा करते हैं। नन्दन के समान अयोध्या के बगीचे में जब प्रभु वन क्रीड़ा के लिए जाते हैं तब पवनकुमार जाति के देव पृथ्वी को धूलि रहित करते हुए बगीचे के वृक्षों को धीरे-धीरे हिलाते हैं तब लताओं से पुष्पों की वर्षा होने लगती है उस समय ऐसा लगता है मानों प्रभु के आगमन की खुशी में ही लताएँ नाच रही हैं और पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर रही हैं। इस प्रकार देवगण ऋषभदेव के वय के अनुसार वेष, भूषा और क्रीड़ा से प्रभु का मनोरंजन करने के बहाने स्वयं का मनोरंजन करते हुए प्रभु की सेवा का पुण्य सम्पादन कर रहे हैं। प्रभु के सानिध्य में ऊँची से ऊँची व्याकरण छन्द आदि चर्चायें तथा तत्त्व चर्चायें करते हुए अपने ज्ञान को विकसित कर रहे हैं।

महाराजा नाभिराय के घर में देव बालकों के साथ समय यापन करते हुए ऋषभदेव सारी प्रजा के नेत्रों को आह्लादित कर रहे हैं। सौधर्म इन्द्र अपने यहाँ के मानस्तंभ के रत्नकरण्डकों में उत्पन्न हुई सुगन्धित मालाएं, दिव्यलेप आदि दिव्यभोग सामग्री और वस्त्र अलंकार आदि वस्तुएं नित्य प्रति वहीं (स्वर्ग) से प्रभु के लिए भेजता रहता है। तीर्थंकर कुमार स्वर्ग से लाए हुए उन माला, लेप, वस्त्र आभरण आदि भोगोपभोग सामग्री का ही उपभोग करते हैं।

(९)

यौवन अवस्था में प्रवेश करने पर तीर्थंकर ऋषभदेव का शरीर बहुत ही सुन्दर दिख रहा है। जन्मकाल से ही प्रभु के दश अतिशय प्रगट हो गये थेः १. उनका रूप बहुत ही सुन्दर और असाधारण था जो कि तपाये हुए स्वर्ण के समान कांतिवाला था २. पसीना से रहित था ३. धूलि और मल से रहित था, ४. उनका रुधिर दूध के समान था ५. समचतुरस्रनामक सुन्दर संस्थान था ६. वज्रवृषभनाराच नाम का उत्तम संहनन था ७. सुगंधि की परम सीमा प्राप्त कर चुका था ८. एक हजार आठ लक्षणों से अलंकृत था ९. अप्रमेय, महाशक्तिशाली था और १०. प्रिय तथा हितकारी वचन बोलने वाला था। ये दश प्रकार की विशेषताएं तीर्थंकर के अवतार पुण्यशाली दिव्य पुरुष में जन्म से ही विद्यमान रहती हैं।

श्री वृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद, छत्र, सिंहासन, पताका, दो मछली, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, वाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चंद्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा ताल-वृन्त-पंखा, बांसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएं, रेशमीवस्त्र, दूकान, कुंडल आदि चमकते हुए आभूषण, फल सहित उपवन, पके हुए कलमों से सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूड़ामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, मंगलादि ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य और आठ मंगलद्रव्य इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन तीर्थंकर के शरीर में विद्यमान रहते हैं। इन मनोहर और शुभ लक्षणों से

व्याप्त श्री ऋषभदेव का शरीर ऐसा सुन्दर दिख रहा है कि जैसे ज्योतिषी देवों से भरित आकाशरूपी आँगन। उनका मुखरूपी चन्द्र इतना अधिक कांतिमान है कि तीनों लोकों में उसके समान कांति अन्य किसी की भी नहीं है। वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न हुई व्याधियाँ तीर्थंकर के शरीर में स्थान नहीं पा सकी थीं सो ठीक ही है वृक्ष अथवा अन्य पर्वतों को हिलाने वाली वायु मेरु पर्वत पर अपना असर नहीं दिखा सकती। उनके शरीर में न कभी बुढ़ापा आ सकता है, न कभी उन्हें खेद होता है और न कभी असमय में उनका अपघात (मृत्यु) ही हो सकता है। उनके श्रीवत्स से चिन्हित वक्षस्थल पर 'इन्द्रच्छद' नाम का दिव्य हार बहुत ही सुन्दर प्रतीत हो रहा है।

किसी एक दिन महाराजा नाभिराय ऋषभदेव की यौवन अवस्था का प्रारंभ देखकर अपने मन में विचार करते हैं—

"ये देव अतिशय सुन्दर शरीर के धारक हैं इनके चित्त को हरण करने वाली कौन सी सुन्दर स्त्री हो सकती है? सुन्दर स्त्री तो मिल सकती है, परन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है इसलिए इनके विवाह का प्रारंभ करना ही कठिन कार्य है। दूसरी बात यह है कि इनका धर्म तीर्थ की प्रवत्ति करने में बहुत बड़ा उद्योग है इसलिए ये नियम से सर्व परिग्रह को छोड़कर वन में प्रवेश करेंगे। तथापि तपस्या करने के लिए जब तक इनका समय आता है तब तक इनके लिए लोकव्यवहार के अनुरोध से योग्य स्त्री का विचार करना चाहिए। जिस प्रकार हंसी कीचड़ रहित मानसरोवर में निवास करती है उसी प्रकार कोई योग्य और कुलीन स्त्री इनके निर्मल मानस में निवास करे।"

ऐसा विचार कर लक्ष्मीवान् महाराजा नाभिराय बड़े ही आदर और

हर्ष के साथ तीर्थंकर ऋषभदेव के पास पहुँचते हैं। पिता को सामने आते देख प्रभु ऋषभदेव उनका स्वागत करते हैं। दोनों यथायोग्य अपने-अपने आसन पर विराजमान हो जाते हैं। तब महाराजा नाभिराय शांतिपूर्वक ऋषभदेव से कहते हैं—

"हे देव! मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ इसलिए आप सावधान होकर सुनिये। आप जगत् के अधिपति हैं इसलिए आपको जगत् का उपकार करना चाहिए। हे देव! आप जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं तथा स्वयंभू हैं—अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि आपकी उत्पत्ति में अपने आपको पिता मानने वाले हम तो एक छल मात्र हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने में उदयाचल निमित्त मात्र है क्योंकि सूर्य तो स्वयं ही उदित होता है उसी प्रकार आपकी उत्पत्ति होने में हम निमित्त मात्र हैं क्योंकि आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं। आप माता के पवित्र गर्भ-गृह में कमलरूपी दिव्य-आसन पर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हैं इसलिए वास्तव में आप शरीर रहित हैं। यद्यपि मैं आपका यथार्थ में पिता नहीं हूँ, निमित्त मात्र से ही पिता कहलाता हूँ तथापि मैं आपसे एक अभ्यर्थना करता हूँ कि आप इस समय संसार की सृष्टि की ओर भी अपनी बुद्धि लगाइये। आप आदि पुरुष हैं इसलिए आपको देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम सन्तान होने वाली है ऐसी प्रजा महापुरुषों के ही मार्ग का अनुगमन करती है। इसलिए हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ! आप इस संसार में किसी इष्ट कन्या के साथ विवाह करने के लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करने से प्रजा की संतति का उच्छेद नहीं होगा और प्रजा की संतति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की संतति बढ़ती रहेगी। इसलिए हे देव! मनुष्यों के इस अविनाशीक

विवाहरूपी धर्म को आप अवश्य ही स्वीकार कीजिये। हे देव! आप इस विवाह कार्य को गृहस्थों का एक धर्म समझिये क्योंकि गृहस्थों को सन्तान की रक्षा में प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए। यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरु (बड़ा) मानते हैं तो आपको मेरे वचनों का किसी भी कारण से उलंघन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरुओं के वचन उलंघन करना इष्ट नहीं है।"

इस प्रकार वचन कहकर धीर-वीर महाराजा नाभिराय चुप हो गए तब ऋषभदेव हँसते हुए—

"ओम्"ऐसा कहकर उनके वचन स्वीकार कर लेते हैं।

"अहो! इन्द्रियों को वश में करने वाले भगवान् ने जो विवाह कराने की स्वीकृति दी थी वह क्या उनके पिता की चतुराई थी, अथवा प्रजा का उपकार करने की इच्छा थी अथवा वैसा कोई कर्मों का नियोग ही था।"

ऋषभदेव की अनुमति जानकर नाभिराय निःशंक होकर बड़े हर्ष के साथ विवाह का बड़ा भारी आयोजन करते हैं। पहले सौधर्म इन्द्र की अनुमति से सुशील, सुन्दर लक्षणों वाली, सती, बहुत ही शांत परिणामों वाली और यौवनवती ऐसी यशस्वती तथा सुनन्दा नाम की दो कन्याओं को उनके भ्राता तीर्थंकर महापुरुष के साथ अपनी बहनों का विवाह प्रस्ताव सुनकर रोमांचित हो जाते हैं उनके हर्ष का पार नहीं रहता है। तभी इन्द्र के साथ बहुत से देवगण आकर आनन्द के साथ बहुत बड़े विवाह मण्डप की रचना कर देते हैं। अयोध्या नगरी की शोभा का तो कहना ही क्या? प्रजा के लोगों में तो आनन्द की विशेष लहर है ही वे सभी लोग मंगल महोत्सव को मनाने में विशेष तैयारियाँ कर ही रहे हैं।

सारी नगरी ध्वजा, पताका, तोरणद्वार और फूलों की मालाओं से सजायी गई है। देवगण भी उत्साह से सारे महोत्सव को सम्पन्न कराने में दत्तचित्त हैं।

इस प्रकार महामहोत्सव के साथ तीर्थंकर ऋषभदेव का विवाह सम्पन्न होता है। नाभिराय अपने परिवार के लोगों के साथ दोनों पुत्रवधुओं को देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हो रहे हैं, सो ठीक ही है क्योंकि संसारीजनों को विवाह आदि लौकिक धर्म ही प्रिय होता है। उस समय माता मरुदेवी बहुत प्रसन्न हो रही हैं, सो सच ही है पुत्र के विवाहोत्सव में माताओं को अधिक प्रेम होता ही है। प्रजा के लोगों का भी आनन्द बढ़ता ही जा रहा है। मनुष्य स्वयं ही भोगों की तृष्णा रखते हैं इसलिए वे स्वामी को भोग स्वीकार करते देखकर उन्हीं का अनुसरण करने लगते हैं। तीर्थंकरदेव का वह विवाहोत्सव केवल मनुष्यलोक की ही प्रीति के लिए नहीं हुआ था, प्रत्युत् उसने स्वर्गलोक में भी भारी प्रीति को उत्पन्न किया था।

नवविवाहिता यशस्वती और सुनन्दा साक्षात् तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे वर को प्राप्त कर महासौभाग्यशालिनी हुई ही थीं, साथ ही अपने स्त्रीपर्याय को भी वे उस समय बहुत ही उत्तम गिन रही थीं। उन दोनों की सुन्दरता श्री ऋषभदेव के योग्य थी और गुणों में वे स्त्री सृष्टि में सर्वोच्च थीं, जभी तो उन्हें तीर्थंकर की पत्नी होने का पुण्य अवसर मिला था। वे नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर स्वर्ग से लाये गये वस्त्र, आभूषणों से अलंकृत थीं। उनके गले में एकावली हार शोभायमान हो रहा था जो कि उनके कण्ठ की शोभा को द्विगुणित कर रहा था।

जहाँ तीर्थंकर ऋषभदेव तो वर हैं और यशस्वती-सुनन्दा जैसी यथा नाम तथा गुणों वाली कन्यायें वधू हैं। अन्तिम कुलकर महाराजा

नाभिराय के साथ ही सौधर्म इन्द्र विवाह महोत्सव करने वाला है और अयोध्या की भाग्यशालिनी प्रजा के साथ-साथ सर्व आर्यखण्ड के लोग तथा स्वर्ग के असंख्य देव-देवियाँ जहाँ उत्सव को देखने वाले हैं। पुरी की पुरन्ध्रिकायें और अप्सरायें जहाँ मंगलगीत गाने वाली और नृत्य करने वाली हैं, वहाँ के उस समय के महामहोत्सव का भला कौन वर्णन कर सकता है?

कीर्ति और लक्ष्मी के समान यशस्वती और सुनन्दा ने अपने सर्व उत्तम-उत्तम गुणों से प्रभु ऋषभदेव का मन हरण कर लिया था, सो ठीक है। यद्यपि कामदेव तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने अनेक बार अपमानित हो चुका था तथापि वह गुप्त रूप से अपना संचार करता ही रहता था। इस प्रकार उन देवियों के साथ सांसारिक सुखों का अनुभव करते हुए जगद्गुरु तीर्थंकर ऋषभदेव का बहुत-सा समय भी क्षणमात्र के समान व्यतीत हो जाता है।

(१०)

यशस्वती महादेवी राजहल में सो रही हैं, रात्रि के पिछले प्रहर में कुछ उत्तम-उत्तम स्वप्न देखती हैं, उसी समय तुरही की मंगल ध्वनि बजने लगती है और बंदीजन मंगलपाठ — सुप्रभाती पढ़ने लगते हैं-

"हे दूसरों का कल्याण करने वाली और स्वयं सैकड़ों कल्याणों को प्राप्त होने वाली देवि! अब तुम जागो, क्योंकि यह उषा की मंगल बेला पूर्व दिशा को अनुरक्त (लाल) कर रही है। हे मातः! तुम्हारे द्वारा देखे गये अनेकों मंगलीक शुभ स्वप्न तुम्हारे और जगत् के मंगल के लिए होवें। हे कल्याणि! आपके पतिदेव के स्मरण से आपका यह सुप्रभात आपके लिए मंगलमयी होवे। हे ऋषभदेव की प्रिय वल्लभे!

अब तुम शय्या छोड़ो और सभी परिवार के जनों को आनन्दित करो।"

इत्यादि मंगल पदों से सुप्रभाती पढ़ते हुए बंदीजनों का कोलाहल शांत हो रहा है। तब यशस्वती महादेवी शय्या को छोड़कर प्राप्तःकाल का मंगलस्नान कर हर्ष से रोमांचित शरीर हो सबके स्वामी तीर्थंकर ऋषभदेव के समीप पहुँचती हैं। विनय से पतिदेव को प्रणाम कर उनके द्वारा निर्दिष्ट भद्रासन पर बैठ जाती हैं। पुनः तीर्थंकर देव के सन्मुख हाथ जोड़कर निवेदन करती हैं-

तब ऋषभदेव अपने दिव्य अवधिज्ञान से स्वप्नों के फल को जानकर कहते हैं-

" हे देवि! स्वप्नों में जो तूने सुमेरु पर्वत देखा है उसका फल यह है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा।

सूर्य उसके प्रताप को और चन्द्रमा उसकी कांतिरूपी सम्पदा को सूचित कर रहा है।

सरोवर के देखने से तेरा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणों से चिन्हित शरीर छोड़कर अपने विस्तृत वक्षस्थल पर कमलवासिनी-लक्ष्मी को धारण करने वाला होगा।

हे देवि! पृथ्वी का ग्रसा जाना देखने से तुम्हारा वह पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्र को धारण करने वाली समस्त छह खण्ड पृथ्वी का स्वामी होगा तथा समुद्र को देखने से वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्र को पार करने वाला होगा।

हे कमल नयने! इक्ष्वाकुवंश को आनन्द देने वाला वह पुत्र तेरे सौ पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ होगा।"

इस प्रकार पति के वचन सुनकर महारानी यशस्वती हर्ष के

अतिरेक से रोमांच को प्राप्त होती हुई पतिदेव को प्रणाम कर अपने राजमहल में वापस आ जाती हैं। इधर सर्वार्थसिद्धि से अहमिंद्र का जीव च्युत होकर महादेवी यशस्वती के पवित्र गर्भ में निवास करने लगता है। वह देवी तीर्थंकरदेव के दिव्य प्रभाव से उत्पन्न हुए गर्भ को धारण कर रही है। यही कारण है कि वह अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य को भी नहीं सहन करती है। वीर सम्राट् को गर्भ में धारण करने वाली वह अपने मुख को तलवाररूपी दर्पण में देखती है। पुनः अतिशय मान से संयुक्त वह तलवार में पड़ती हुई अपनी प्रतिकूल छाया को भी नहीं सहन कर सकती है। वह रत्नगर्भा भूमि के समान, फलवाली बेल के समान सूर्यरूपी तेज जिसमें छिपा है ऐसी पूर्व दिशा के समान अतिशय सुन्दरता को प्राप्त हो रही है। यशस्वती देवी के गर्भावस्था में भी उदर की त्रिवली भंग नहीं हुई थी ऐसा लगता था कि मानों बालक अभंग दिग्विजय प्राप्त करेगा। उस देवी को सदा उत्तम-उत्तम दोहले होते रहते हैं जो कि माता मरुदेवी के हर्षसागर की वृद्धि को करने वाले रहते हैं।

इस प्रकार नव महीने व्यतीत हो जाने पर यशस्वती महादेवी देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्ररत्न को जन्म देती हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म के समय में जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि थे वे ही शुभ दिन आदि उस समय भी हैं अर्थात् उस समय चैत्र कृष्ण नवमी, मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धनराशि का चंद्रमा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र है। उस समय उत्तम मुहूर्त में जन्मा हुआ वह शिशु अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ है इसलिए निमित्त ज्ञानियों ने बतलाया कि 'यह समस्त पृथ्वी का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होगा।' उस समय पुत्र जन्म के

अवसर पर उसके दादा-दादी अर्थात् महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी दोनों ही परमहर्ष को प्राप्त हो रहे हैं। अतीव हर्ष को प्राप्त हुई पुत्रवती सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल बधाई गाती हुई यशस्वती देवी को आशीर्वाद देते हुए कहती हैं—

"हे देवि! पुत्राणां शतं प्रसूष्व, शतपुत्रा भव, अर्थात् हे देवि! तू इसी प्रकार सौ पुत्रों को उत्पन्न कर।"

उसी क्षण राजमंदिर में बड़े-बड़े नगाड़े बजने लगते हैं, तुरही, दुंदुभि, झल्लरी, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि अनेक बाजे बज रहे हैं। देवगण भी आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। सुगंधित कमल पराग से मिश्रित जल के छींटों से सहित ऐसी हवा मंद-मंद चल रही है। देवगण आकाश में जय-जयकार के शब्दोच्चारण से सारे वातावरण को मुखरित कर रहे हैं। देवियाँ शुभ मंगल शब्दों के द्वारा शिशु को शुभाशीर्वाद दे रही हैं—

'हे तीर्थंकर के सुपुत्र! तुम चिरंजीव रहो, करोड़ों मंगल को प्राप्त करो।"

नर्तकियाँ मंगल गीत गाते हुए नृत्य कर रही हैं, अयोध्या नगर की गली-गली में चंदन का छिड़काव किया जा रहा है एवं मंगल चौक पूरे जा रहे हैं। रत्न निर्मित तोरणों से घर-घर के द्वार सजाये गये हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ रत्नों के चूर्ण से नाना तरह के सुन्दर चौक बनाकर उन पर सुवर्ण कमलों से ढके हुए ऐसे मंगलीक सुवर्ण कलश रख रही हैं। उस समय समस्त अयोध्यानगरी उत्सव को धारण कर रही है।

तीर्थंकर ऋषभदेव स्वयं अपने हाथों से सुवर्ण, रत्न आदि दान से दान की धारा बरसा रहे हैं अर्थात् सुवर्ण रत्न आदि दान दे रहे हैं। वह

बालकरूपी चंद्रमा तीर्थंकर ऋषभदेवरूपी उदयाचल से उदय को प्राप्त हुआ है। अतएव वह समस्त अंतःपुर सहित नगर भर में आनन्दरूपी अमृत को बरसा रहा है। "उस समय प्रेम से भरे हुए सभी बंधुगण समस्त भरत क्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को 'भरत' इस नाम से संबोधित कर रहे हैं। इतिहास के जानने वालों का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवान पर्वत से लेकर समुद्र पर्यत का चक्रवर्तियों का क्षेत्र उसी 'भरत' पुत्र के नाम के कारण 'भारतवर्ष' इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हो रहा है।"[१]

उस बालक के चरण कमलों में चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिन्ह बने हुए हैं और वे ऐसे मालूम पड़ते हैं कि मानों ये चौदह रत्न लक्षणों के बहाने ही भावी चक्रवर्ती की पहले से ही सेवा कर रहे हों। वह बालक माता यशस्वती के स्तन का पान करता हुआ जब कभी दूध के कुरले को बार-बार उगलता था तब वह ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों अपना यश ही दिशाओं में बाँट रहा है। वह बालक 'भरत' अपनी मंद मुस्कान, मनोहर हास, मणिमयी भूमि पर चलना और अव्यक्त मधुर भाषण आदि के द्वारा अपने दादा-दादी और माता-पिता के हर्ष समुद्र को बढ़ा रहा है। जैसे-जैसे बालक बढ़ रहा है वैसे-वैसे ही उसके गुण भी बढ़ते जा रहे हैं।

---

१. प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा।
तमाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ।।१५८।।
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ।।१५९।।
(आदिपुराण, पर्व, १५)

विधि के विधाता तीर्थंकर ऋषभदेव उस बालक के क्रम से अन्नप्राशन, चौल और उपनयन आदि संस्कार स्वयं करते हैं।

बालक भरत शैशव में प्रवेश कर रहे हैं। उस समय उनकी वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान आदि सब कुछ वही हैं जो कि उनके पिता ऋषभदेव के हैं। पिता के साथ तन्मयता को प्राप्त भरत पुत्र को देखकर प्रजा कहा करती है कि 'पिता का आत्मा ही पुत्र नाम से कहा जाता है' यह बात बिल्कुल सच है। वह भरत पन्द्रहवें मनु तीर्थंकर ऋषभदेव के मन को भी अपने अधीन कर लेते हैं इसलिए लोग कहने लगे कि—

"अहो! यह सोलहवाँ मनु उत्पन्न हो गया है।"

केवल मात्र भरत के चरणों का पराक्रम ही समस्त पृथ्वी मंडल पर आक्रमण करने वाला है फिर भला उसके सम्पूर्ण शरीर का पराक्रम कौन सहन कर सकता है? उसके शरीर सम्बन्धी बल का वर्णन केवल इतने से ही समझ लिया जाता था कि वह चरमशरीरी है, और उसकी आत्मा संबंधी बल का वर्णन दिग्विजय आदि ब्रह्मा चिन्हों से जाना जावेगा। चक्रवर्ती के क्षेत्र में रहने वाले समस्त मनुष्य और देवों में जितना बल होता है उससे कई गुना अधिक बल चक्रवर्ती भरत की भुजाओं में है। 'जहाँ सुन्दर आकार है वहीं समस्त गुण निवास करते हैं।' इस लोकोक्ति के अनुसार सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, दशम और विनय ये गुण उनकी आत्मा के साथ-साथ रह रहे हैं। सुन्दर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्वप्रियवचन और चातुर्य आदि इस संसार में जितने भी कुछ सुख के कारण हैं वे सब अभ्युदय कहलाते हैं और वे सब संसारी जीवों को

पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं। जब तीर्थंकर ऋषभदेव भी अपने प्रिय पुत्र भरत के मुख को देखकर उसके विनयपूर्ण शब्दों को सुनकर प्रणाम के बाद उठाकर खड़े हुए उसका बार-बार आलिंगन कर तथा उसे अपनी गोद में बिठाकर परम संतोष को प्राप्त होते रहते हैं। तब पुनः महाराजा नाभिराज, दादी मरुदेवी और माता यशस्वती तथा सुनन्दा के आनन्द का क्या कहना है वे तो भरत की चेष्टा को उत्सुकता से देखा ही करते हैं।

(११)

तीर्थंकर ऋषभदेव की द्वितीय वल्लभा सुनन्दा महादेवी किसी समय रात्रि के पिछले प्रहर में शुभ स्वप्नों को देखकर सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए अहमिंद्र के जीव को अपने उदर में धारण करती हैं। सुखपूर्वक नवमास व्यतीत कर उत्तम नक्षत्र आदि शुभयोग में पुत्र रत्न को जन्म देती हैं। उस समय भी पूर्ववत् नाना उत्सव किये जाते हैं तथा बालक का 'बाहुबली' यह नामकरण किया जाता है जो कि मानों उस बालक के भविष्य में होने वाले अचिन्त्य बाहुबल को ही सूचित कर रहा है। यह बालक भी इस युग के चौबीस कामदेवों में से 'प्रथम कामदेव' है अतः इसकी सुन्दरता का वर्णन लेखनी के द्वारा कोई नहीं कर सकता है। इस बालक के शरीर का वर्ण मरकतमणि के समान हरा है जो कि अभूतपूर्व ही सौंदर्य को दिखा रहा है।

इधर माता यशस्वती के क्रम-क्रम से निन्यानवे पुत्र होते हैं। वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर और वरवीर आदि जिनके अच्छे-अच्छे नाम हैं और ये सभी भी चरमशरीरी महापुण्यवान् हैं। इनके बाद महादेवी यशस्वती के एक सुन्दर कन्या का जन्म होता है

जिसका 'ब्राह्मी' ऐसा नाम रखा जाता है। उसी प्रकार से सुनन्दा देवी के भी एक पुत्री का जन्म होता है जिसे सुन्दरी नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार तीर्थंकर ऋषभदेव के भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र एवं ब्राह्मी-सुन्दरी ऐसी दो पुत्रियाँ हैं। इन सभी परिवार के साथ महाराजा नाभिराय और माता मरुदेवी अपने आप में महान् सुख का अनुभव कर रहे हैं।

कर्मयुग के प्रारंभ में तीर्थंकर ऋषभदेव स्वयं अपने पुत्रों के लिए कण्ठ और वक्षस्थल के अनेक आभूषण बनाते हैं, भरत, बाहुबली आदि सभी पुत्र भी उन आभूषणों को धारण कर ज्योतिषी देवों के समान सुशोभित हो रहे हैं।

उन आभूषणों में यष्टि, हार और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नों के बने हुए अनेक आभूषण हैं। उनमें से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरल प्रबंध के भेद से पाँच प्रकार का होता है। ये पाँचों प्रकार की यष्टियाँ मणिमध्या और शुद्धा के भेद से दो-दो प्रकार की हैं। जिसके बीच में एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीच में मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं। मणिमध्या यष्टि को सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं और यदि यही मणिमध्या यष्टि सुवर्ण तथा मणियों से चित्र-विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं। जो यष्टि किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण मणि, माणिक्य और मोतियों के द्वारा बीच में अन्तर दे दे कर गूँथी जाती है, उसे अपवर्तिका कहते हैं।

जिसके बीच में एक बड़ा मोती हो वह शीर्षक है। जिसके बीच में क्रम से तीन मोती लगे हों उसे उपशीर्षक, जिसमें पाँच मोती हों उसे

प्रकाण्डक, जिसके बीच में एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम-क्रम से घटते हुए छोटे-छोटे मोती लगे हों उसे तरल प्रबंध कहते हैं।

यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार कहते हैं, वह हार लड़ियों की संख्या के न्यूनाधिक होने से इन्द्रच्छंद आदि के भेद से ग्यारह प्रकार का होता है। जिसमें १००८ लड़ियाँ हों वह इन्द्रच्छंद है। यह हार सबसे उत्कृष्ट होता है, इसे इन्द्र, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर ही पहनते हैं। जिसमें ५०४ लड़ियाँ हों उसे विजयच्छंद हार कहते हैं, यह हार अर्ध चक्रवर्ती और बलभद्र के पहनने योग्य है। जिसमें १०८ लड़ियाँ हों उसे हार कहते हैं, जिसमें मोतियों की ८१ लड़ियाँ हों उसे देवच्छंद, जिसमें ६४ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें ५४ हों उसे रश्मिकलाप जिसमें ३२ हों उसे गुच्छ, जिसमें २७ हों उसे नक्षत्रमाला, जिसमें २४ हों उसे अर्धगुच्छ, २० लड़ियों के हार को माणव और १० लड़ियों के हार को अर्धमाणव कहते हैं। इन इच्छ्रच्छंद आदि हारों के मध्य में जब मणि लगा दिया जाता है तब उन नामों के साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है। अर्थात् इन्द्रच्छंद माणव, विजयछन्द माणव आदि।

जो एक शीर्षकहार है वह शुद्धहार है। यदि शीर्षक के आगे इन्द्रच्छंद आदि उपपद लगा दिये जाते हैं तो वह भी ग्यारह भेदों से युक्त हो जाता है। इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारों के भी ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं। इस प्रकार सब हार पचपन प्रकार के होते हैं। अर्धमाणव हार में यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते हैं। उसी फलकहार में जब सोने के तीन अथवा पाँच फलक लगे हों तो उसके सोपान और मणि सोपान ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार से तीर्थंकरदेव के द्वारा निर्मित कराये गये आभूषणों को

धारण करने से उनके सभी पुत्र और पुत्रियाँ अतिशय अलंकृत हो रहे हैं। सर्व राजकुमारों में भरत अतिशय तेजस्वी सूर्य के समान हैं, युवा बाहुबली चंद्रमा के समान हैं, शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र और तारागण के समान हैं। उन सभी राजपुत्रों में ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चाँदनी के समान सुशोभित हो रही हैं।

सभी पुत्र-पुत्रियों से घिरे हुए तीर्थंकर ऋषभदेव ज्योतिषी देवों से घिरे हुए ऊँचे सुमेरु पर्वत के समान शोभायमान हो रहे हैं और महाराजा नाभिराय तथा माता मरुदेवी के आनन्द को बढ़ा रहे हैं।

(१२)

तीर्थंकर ऋषभदेव राज्यसभा में सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके चित्त में विद्या और कला के उपदेश की भावना जाग्रत हो रही है। इसी बीच ब्राह्मी और सुंदरी दोनों कन्याएं मांगलिक वेष-भूषा धारण किए हुए अपने पूज्य पिता के निकट आती हैं। उस समय देखने वालों को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि—

"ये कोई दिव्य कन्याएं हैं? अथवा नागकन्याएं हैं? अथवा दिक् कन्यायें हैं? अथवा सौभाग्य देवियाँ हैं? अथवा लक्ष्मी और सरस्वती हैं? अथवा उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं? अथवा उन्हीं का अवतार हैं? अथवा क्या जगन्नाथ ऋषभदेव रूपी महासमुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी हैं?"

इत्यादिरूप सभासद लोग उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। दोनों कन्यायें पिता के समीप आकर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर गवासन से बैठकर नमस्कार करती हैं।

"हे पूज्य पिताजी! प्रणाम।"

"चिरंजीव रहो पुत्री!"

ऐसा आशीर्वाद देते हुए तीर्थंकर महाराज नमस्कार करती हुई अपनी पुत्रियों को बड़े प्यार से उठाकर अपनी गोद में बिठा लेते हैं। पुनः उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए और मुस्कराते हुए बड़े प्रेम से कहते हैं—

"आओ, पुत्रियों आओ! तुम समझती होंगी कि हम आज देवों के साथ अमरवन को जायेंगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता चूँकि वे देवगण पहले ही चले गए।"

दोनों कन्याएं भी पिता का असीम प्रेम प्राप्त कर और उनके ऐसे विनोदपूर्ण मधुर शब्द सुनकर हँस पड़ती हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उनके मुख से फूल ही झड़ रहे हैं।

इस प्रकार कुछेक क्षण तीर्थंकर देव अपनी पुत्रियों के साथ विनोद करते हुए अनंतर कहते हैं—

"पुत्रियों! तुम अपने शील और विनय गुण के कारण इस किशोरावस्था में भी वृद्धा के समान हो। तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित कर दिया जावे तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है। इस लोक में विद्यावान् पुरुष पंडितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है।

विद्या ही सभी मनुष्यों का हित करने वाली है, विद्या ही सम्पूर्ण दिशाओं में यश को विस्तृत करने वाली है, अच्छी तरह से आराधना की गई यह विद्या देवता ही मनुष्यों के संपूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाली है। यह विद्या ही मनुष्यों के लिए कामधेनु है, विद्या ही चिंतामणि रत्न है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा कामरूप फल से सहित संपदाओं को उत्पन्न करती है, विद्या ही बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने

वाली है, विद्या ही साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। इसलिए हे पुत्रियों! तुम दोनों अब विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि तुम दोनों की यही विद्या ग्रहण करने की उम्र है।"

तीर्थंकर ऋषभदेव ऐसा कहकर बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित करते हैं, पुनः-

'सिद्धं नमः'

इस मंगलाचरण रूप मंत्र का उच्चारण कर पुत्रियों से उच्चारण कराकर अपने दाहिने हाथ से दाईं ओर बैठी हुई पुत्री को 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह, अनुस्वार (अं), विसर्ग (अः), जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन चार अयोगवाह पर्यंत समस्त स्वर व्यंजन रूप शुद्ध अक्षरावली को लिखाते हैं और बायें हाथ से अपनी बाईं तरफ बैठी हुई पुत्री को इकाई दहाई आदि स्थानों के क्रम से १, २, ३, आदि संख्यारूप गणित लिखाते हैं।

वे दोनों कन्यायें पूज्य पिता ऋषभदेव के मुख से इन सिद्धमातृका रूप अक्षर लिपि[१] व गणित को अच्छी तरह से समझकर हृदय में धारण कर लेती हैं। गणधर देव व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को 'वाङ्मय' कहते हैं। इस वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है। इसलिए प्रभु ऋषभदेव सबसे

१. लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रभु ऋषभदेव के द्वारा अपनी प्रथम पुत्री ब्राह्मी को अक्षर विद्या सिखाई गई, इसीलिए उसका नाम 'ब्राह्मीलिपि' है।

पहले उन पुत्रियों को वाङ्मय का ही उपदेश देते हैं।

उस समय स्वयंभू ऋषभदेव का बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था, उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गंभीर था। इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का भी उपदेश दिया और उसके 'उक्ता, अत्युक्ता' आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये। अनेक विद्याओं के अधिपति ऋषभदेव ने प्रस्तार, नष्ट उद्दिष्ट, एक द्वि त्रि लघु क्रिया, संख्या और अध्वयोग, छन्दशास्त्र के इन छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया। प्रभु ने अलंकारों का संग्रह करते समय अथवा अलंकार संग्रह ग्रंथ में उपमा, रूपक, यमक आदि अलंकारों का कथन किया और माधुर्य, ओज आदि दशप्राण अर्थात् गुणों का भी निरूपण किया था।

कुछ ही दिनों में ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों की व्याकरणरूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें और कलायें अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से उन्होंने समस्त विद्यायें पढ़ ली हैं। अतः अब वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिए पात्रता को प्राप्त हो चुकी हैं। अर्थात् वे इतनी ज्ञानवती हो चुकी हैं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती हैं।

जगद्गुरु तीर्थंकर ऋषभदेव अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार उन्हें अनेक शास्त्र पढ़ाते हैं। भरत पुत्र को अत्यन्त विस्तृत बड़े-बड़े अध्यायों से स्पष्ट अर्थशास्त्र और संग्रह प्रकरण सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाते हैं। वृषभसेन पुत्र को गाना, बजाना आदि अनेक पदार्थों के संग्रह सहित सौ से भी अधिक अध्याय युक्त

ऐसे गंधर्व शास्त्र को पढ़ाते हैं। अनन्तविजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला संबंधी विद्या का उपदेश देते हैं और लक्ष्मीशोभा सहित समस्त कलाओं का निरूपण करते हैं तथा सूत्रकार की विद्या और मकान बनाने की विद्या को भी विस्तार से सिखाते हैं। बाहुबली पुत्र के लिए कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तंत्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्रों को अनेक प्रकार के बड़े-बड़े अध्यायों में विभाजित कर सिखाते हैं।

इस विषय में अधिक कहने से क्या? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जितने भी शास्त्र हो सकते हैं, जगद्गुरु प्रभु ऋषभदेव उन सभी को अपने पुत्रों को सिखलाते हैं। जिस प्रकार स्वभाव से देदीप्यमान रहने वाले सूर्य का तेज शरद् ऋतु में और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार प्रभु ऋषभदेव के अपनी समस्त विद्याओं के प्रकाशित कर देने पर उनका तेज उस समय अत्यधिक महिमा को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार अपने इष्ट पुत्र-पुत्रियों से घिरे हुए और अनेक प्रकार के दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए तीर्थंकर ऋषभदेव का बीस लाख पूर्व वर्ष पर्यन्त का कुमार काल पूर्ण हो चुका है।

(१३)

इसी बीच में काल के प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गई हैं। मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोये हुए धान्य उत्पन्न हो रहे थे वे भी काल के प्रभाव से प्रायः विरलता को प्राप्त हो गये हैं, जहाँ कहीं कुछ-कुछ मात्रा में ही रह गये हैं। कल्पवृक्ष रस, वीर्य और फल देने आदि से रहित हो गये हैं। ऐसे

समय में वहाँ की प्रजा रोग आदि अनेक बाधाओं से व्याकुलता को प्राप्त होने लगती है। तब जीवित रहने की इच्छा से प्रजा के प्रमुख-प्रमुख लोग महाराजा नाभिराय के समीप पहुँचकर अपना दुःख निवेदन करते हैं। महाराय नाभिराय कहते हैं—

"हे प्रजाजनों! अब तुम तीर्थंकर के अवतार उन ऋषभदेव के पास जाओ, वे ही तुम्हें आजीविका का उपाय बतायेंगे।"

इतना सुनकर तथा नाभिराय को नमस्कार कर प्रजाजन तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के समीप आ जाते हैं और साष्टांग नमस्कार कर प्रार्थना करते हैं—

"हे प्रभु! जीवित रहने की इच्छा से हमलोग आपकी शरण में आये हुए हैं, इसलिए हे तीन लोक के नाथ! अब आप जीविका का उपाय बतला कर हम लोगों की रक्षा कीजिए। हे विभो! जो कल्पवृक्ष पिता के समान हमारी रक्षा करते थे वे सब मूल से नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोए हुए उग रहे थे वे भी अब नहीं फल रहे हैं। हे देव! हम लोगों को भूख-प्यास की बाधा सता रही है और अन्न-पानी से रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते हैं। हे देव! शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदि का उपद्रव, आश्रयरहित, मकानरहित हमलोगों को दुःखी कर रहा है इसलिए अब इन सबके दूर करने का उपाय बतलाइये। हे विभो! आप ही इस युग के आदिकर्ता हैं और कल्पवृक्ष के समान उन्नत हैं सो आपका आश्रय पाकर हम लोग भय के स्थान कैसे हो सकते हैं? हे देव! जिस प्रकार हम लोगों की आजीविका निरुपद्रव हो जाये आज उसी प्रकार का उपदेश देकर हम लोगों को कृतार्थ कीजिये। हे दयानिधे! अब शीघ्र ही हम लोगों पर प्रसन्न होइये।"

प्रजाजनों के इस प्रकार के दीन वचन सुनकर दया के सागर तीर्थंकर देव का हृदय करुणा से आर्द्र हो उठा, वे अपने मन में विचार करने लगे—

"पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है तभी यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम-नगर, घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है उसी प्रकार यहाँ पर भी होनी चाहिए। इन्हीं उपायों से इन सबकी आजीविका चल सकती है। इनके जीवन के लिए और कोई अन्य उपाय नहीं हैं।[१] कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यह कर्मभूमि प्रगट हो गई है, इसलिए यहाँ अब प्रजा को असि, मषि आदि छह क्रियाओं द्वारा आजीविका करना ही उचित है।"

इस प्रकार प्रभु ऋषभदेव क्षणभर सोचकर पुनः प्रजा को बार-बार आश्वासन देते हुए कहते हैं—

"तुम लोग भयभीय मत होओ।"

इतना कहते ही प्रभु उसी क्षण मन में इन्द्र का स्मरण करते हैं। प्रभु के स्मरण मात्र से ही सौधर्म इन्द्र बहुत से देवों के साथ वहाँ उपस्थित हो जाता है और प्रभु को नमस्कार कर उनको इच्छानुसार

---

१. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।१४३।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः।।१४४।।
(आदि पुराण, पर्व १६)

प्रथम ही मांगलिक कार्य करके अयोध्यापुरी के मध्य में जिनमंदिर की रचना करता है। उस काल में शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न था तथा सूर्य आदि ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान में स्थित थे और जगद्गुरु ऋषभदेव की हर तरह की अनुकूलता थी। मध्य में जिनमंदिर का निर्माण करके वह इन्द्र पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी क्रम से जिनमंदिर का निर्माण करता है। पुनः कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि महानगर, वन और सीमा सहित गाँव, खेड़ों आदि की भी रचना करता है।

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स,पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कौशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सोवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, बाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशों की रचना करता है तथा इनके सिवाय और भी अनेक देशों का विभाग कर देता है।

उस समय इन्द्र ने कितने ही देश अदेवमातृक, कितने ही देश देवमातृक और कितने ही देश साधारण बनाएं। जहाँ नदी और नहरों से सिंचाई होती है वे अदेवमातृक हैं, जहाँ वर्षा के जल से सिंचाई हो जाती है ऐसे प्रदेश देवमातृक कहलाते हैं और जहाँ दोनों प्रकार से सिंचाई संभव हो उन्हें साधारण देश कहते हैं।

'विजयार्ध पर्वत के समीप से लेकर समुद्रपर्यंत (दक्षिण दिशा में लवण समुद्र पर्यंत) कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत

जलवाले थे और कितने ही देश जल की दुर्लभता से सहित थे।'[१]

उन सभी देशों से व्याप्त यह पृथ्वी (भरत क्षेत्र का आर्यखण्ड) ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों यह स्वर्ग का एक टुकड़ा ही हो। जिस प्रकार स्वर्ग के स्थानों की सीमाओं पर लोकपाल देवों के स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशों की अन्त सीताओं पर भी सब ओर सीमारक्षक पुरुषों के किले बना दिए। उन देशों के मध्य में भी अनेक देश ऐसे थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिंद तथा शबर आदि म्लेच्छ जाति के लोगों द्वारा रक्षित हो रहे थे। उन देशों के मध्य भाग में कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से शोभायमान राजधानी बनाई गई थीं। राजधानी को घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षण वाले गाँवों आदि की रचना हुई थी।

जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों, जो बगीचे और तालाबों से सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं। जिसमें सौ घर हों उसे छोटा गाँव कहते हैं। जिसमें पाँच सौ घर हों और किसान धनसंपन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं। छोटे गाँवों की सीमा एक कोस की और बड़े गाँवों की सीमा दो कोस की होती है। नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, बबूल आदि कंटीले वृक्ष, वन और पुल, इनसे गाँवों की सीमा का विभाग किया जाता है।

जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हों और प्रधान पुरुषों के रहने योग्य हो वह पुर या नगर कहलाता है।

---

१. देशैः साधारणानूपजांगलैस्तैस्तता मही। रेजे रजतभूभर्त्तुरारादा च पयोनिधेः।।१५९।। (आदि पुराण, पर्व १६)

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हो उसे खेट कहते हैं। जो केवल पर्वत से घिरा हो उसे कर्वट कहते हैं। जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो वह मडम्ब कहलाता है। जो समुद्र के किनारे बसा हो उसे पत्तन कहते हैं। जो नदी के किनारे हो वह द्रोणमुख है। जो ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढेरों से सहित हो वह संवाह है।

इस प्रकार इन्द्र जहाँ-तहाँ उन-उन योग्य स्थानों के अनुसार बड़े ही अच्छे ढंग से गाँव नगर आदि की रचना कर देता है, उसी समय से वह 'पुरन्दर' इस सार्थक नाम को धारण कर लेता है। तदनन्तर वह सौधर्म इन्द्र तीर्थंकर ऋषभदेव की आज्ञा से इन नगर, आदि स्थानों में प्रजा को बसाकर कृतकृत्य होता हुआ प्रभु की आज्ञा लेकर अपने स्वर्गधाम को चला जाता है। पुनः तीर्थंकर ऋषभदेव अपनी बुद्धि की कुशलता से असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्पकला इन छह क्रियाओं का प्रजा के लिए उपदेश देते हैं। उस समय प्रभु सरागी हैं, गृहस्थावस्था में राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हैं, वीतरागी नहीं हैं, इसलिए वो प्रजा को गृहस्थाश्रम की आजीविका का उपाय बतला रहे हैं[१]।

"हे प्रजाजनों! असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह क्रियाओं द्वारा तुम लोग आजीविका करो। तलवार आदि धारण करना असि कर्म है। लिख कर आजीविका करना मषिकर्म है। जमीन को जोतना-बोना कृषि कर्म है। शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदि सिखाकर आजीविका करना विद्या कर्म है। व्यापार करना वाणिज्य कर्म है और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्पकर्म है, यह शिल्प

१. असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः।।१७९।।

चित्र खींचना, फूल-पत्ते काटना आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार है।"

ऋषभ तीर्थंकर उस समय उन-उन की योग्यतानुसार उन्हें वैसी-वैसी शिक्षा दे रहे हैं। उसी समय आदि ब्रह्मा ऋषभदेव तीन वर्ण की स्थापना करते हैं। तो तलवार धारण कर विपत्ति से रक्षा करने में समर्थ हैं उन्हें क्षत्रिय संज्ञा देते हैं जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा आजीविका करने योग्य हैं उन्हें वैश्य संज्ञा दी तथा जो उनकी सेवा शुश्रूषा के योग्य हैं उन्हें शूद्र संज्ञा से अभिहित करते हैं, शूद्र में दो भेद हैं-कारू और अकारू। धोबी आदि शूद्र कारू हैं और उनसे भिन्न अकारू हैं।

प्रभु से उपदेश, आदेश और वर्ण व्यवस्था को प्राप्त कर प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करना प्रारंभ कर देती है। अपने वर्ण के निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई भी मनुष्य दूसरी आजीविका नहीं करता है, इसलिए उनके कार्यों में कभी संकर (मिलावट) दोष नहीं आता है। उस समय उनके विवाह, जाति संबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य प्रभु ऋषभदेव की आज्ञानुसार ही होते थे। उस काल में जितने भी पाप रहित आजीविका के उपाय थे वे सब प्रभु ऋषभदेव की सम्मति से ही प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि सनातन ब्रह्मा प्रभु ऋषभदेव ही माने गए हैं।

युग की आदि में प्रथम तीर्थंकर के अवतार ऋषभदेव ने इस प्रकार से कर्मयुग का प्रारंभ किया था, इसलिए पुराण के जानने वाले महामुनि उन्हें 'कृतयुग' नाम से पुकारते हैं। जिस दिन प्रभु ने वर्ण व्यवस्था बना कर प्रजा को असि, मसि आदि षट्कर्मों का उपदेश दिया था वह पुण्य तिथि मानी जा रही है। अतः उसी समय से प्रभु ऋषभदेव को प्रजा ने 'प्रजापति' कहकर भी सम्बोधा था। अब प्रभु के द्वारा सदुपदेश प्राप्त कर प्रजा सुख से अपना गार्हस्थ्य जीवन बिता रही है।

(१४)

एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार (थाली सदृश) इस जम्बूद्वीप में हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी इन छह कुलाचलों से विभाजित सात क्षेत्र हैं, जिनके नाम भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत हैं। भरत क्षेत्र का दक्षिण-उत्तर विस्तार ५२६-६/१९ योजन है। आगे पर्वत और क्षेत्र के विस्तार विदेह क्षेत्र तक दूने-दूने हैं पुनः आधे-आधे हैं।

इनमें से भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन से भोगभूमि और कर्मभूमि की व्यवस्था चलती रहती है जो अशाश्वत कहलाती है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोग भूमि की व्यवस्था है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था है। विदेह क्षेत्र में दक्षिण-उत्तर में देवकुरु-उत्तरकुरु नाम से क्षेत्र हैं जहाँ पर उत्तम भोग भूमि की व्यवस्था है। ये छहों भोगभूमियाँ शाश्वत हैं। विदेह क्षेत्र में पूर्व पश्चिम में १६ वक्षार पर्वत और १२ विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ क्षेत्र हो जाते हैं। जिनके नाम कच्छा, सुकच्छा आदि हैं। इन बत्तीसों विदेह क्षेत्रों में कर्मभूमि की व्यवस्था सदाकाल एक जैसी रहती है अतः इन्हें शाश्वत कर्मभूमि कहते हैं।

विदेह क्षेत्र का विस्तार (दक्षिण-उत्तर) ३३६८४-४/१९ योजन है और उसकी लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) १००००० योजन है। इस विदेह के ठीक मध्य में सुदर्शन मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। पृथ्वी पर इसकी चौड़ाई १० हजार है और घटते-घटते ऊपर जाकर ४ योजन मात्र की रह गई है। इस सुमेरु की चारों विदिशाओं में एक-एक गजदन्त पर्वत है जो कि एक तरफ से सुमेरु का स्पर्श कर रहे

हैं और दूसरी तरफ से निषध-नील पर्वत को छूते हुए हैं। इन पर्वतों के निमित्तों से भी विदेह की चारों दिशाएँ पृथक्-पृथक् विभक्त हो गई हैं। सुमेरु से उत्तर की ओर उत्तरकुरु में ईशान कोण में जम्बूवृक्ष है और सुमेरु से दक्षिण की ओर देवकुरु है जिसमें आग्नेय कोण में शाल्मलीवृक्ष है। इन दोनों कुरुओं में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होने से वहाँ पर सदा ही उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है।

सुमेरु के पूर्व-पश्चिम में विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा नदियाँ बहती हैं। इससे पूर्व-पश्चिम विदेह में भी दक्षिण-उत्तर भाग हो जाते हैं। सुमेरु के पूर्व में और सीता नदी के उत्तर में सर्वप्रथम भद्रसाल वन की वेदिका है, पुनः क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है जो कि ५०० योजन विस्तृत, १५५९३-२/१९ योजन लम्बा तथा नील पर्वत के पास ४०० योजन एवं सीता नदी के पास ५०० योजन ऊँचा है। यह पर्वत सुवर्णमय है। इस पर चार कूट हैं। जिनमें से नदी के पास के कूट पर जिन मंदिर एवं शेष तीन कूटों पर देव-देवियों के आवास हैं। इस पर्वत के बाद क्षेत्र, पुनः विभंगानदी, पुनः क्षेत्र, पुनः वक्षार पर्वत ऐसे क्रम से चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियों के अन्तराल से तथा एक तरफ भद्रसाल की वेदी और दूसरी तरफ देवारण्य वन की वेदी के निमित्त से इस एक तरफ से विदेह में आठ क्षेत्र हो गए हैं। ऐसे ही सीता नदी के दक्षिण तरफ ८ क्षेत्र हैं तथा पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर में ८-८ क्षेत्र ऐसे बत्तीस क्षेत्र हैं। बत्तीस विदेह क्षेत्रों के नाम —

कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया, रम्यकावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती,

शंखा, नलिनी, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धिला और गन्धमालिनी।

कच्छा विदेह का वर्णन —

यह कच्छा विदेह क्षेत्र पूर्व-पश्चिम में २२१२—७/८ योजन विस्तृत है और दक्षिण-उत्तर में १६५९२-२/१९ योजन लम्बा है। इस क्षेत्र के बीचों-बीच में ५० योजन चौड़ा, २२१२-७/८ योजन लम्बा और २५ योजन ऊँचा विजयार्ध पर्वत है। इस विजयार्ध में भी भरत क्षेत्र के विजयार्ध के समान दोनों पार्श्व भागों में दो-दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। इन दोनों तरफ की श्रेणियों पर विद्याधर मनुष्यों की ५५-५५ नगरियाँ हैं। इस विजयार्ध पर्वत पर ९ कूट हैं, इनमें से एक कूट पर जिनमंदिर और शेष ८ कूटों पर देवों के भवन हैं। नील पर्वत की तलहटी में गंगा-सिंधु नदियों के निकलने के लिए दो कुण्ड बने हैं। इन कुण्डों में से दो नदियाँ निकल कर सीधी बहती हुई विजयार्ध पर्वत की तिमिस्रगुफा और खण्डप्रपातगुफा में प्रवेश कर बाहर निकल कर क्षेत्र में बहती हुई आगे आकर सीता नदी में प्रवेश कर जाती हैं। इस कच्छा देश में विजयार्ध और गंगा-सिंधु के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से नदी के पास के मध्य में आर्यखण्ड है और शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं। आर्यखण्ड के बीचों-बीच में क्षेमा नाम की नगरी है, जो कि मुख्य राजधानी है। यह एक कच्छा विदेह देश का वर्णन है। इसी प्रकार से महाकच्छा आदि इकतीस विदेह देशों की व्यवस्था है ऐसा समझना।

विदेह क्षेत्र की व्यवस्था —

प्रत्येक विदेह में ९६ करोड़ ग्राम, २६ हजार नगर, १६ हजार खेट, २४ हजार कर्वट, ४ हजार मडंब, ४८ हजार पत्तन, ९९ हजार

द्रोण, १४ हजार संवाह और २८ हजार दुर्गाटवी हैं।

जो चारों ओर कांटों की बाड़ से वेष्टित हो, उसे ग्राम कहते हैं। चार दरवाजों युक्त कोट से वेष्टित को नगर कहते हैं। नदी और पर्वत दोनों से वेष्टित को खेट कहते हैं। पर्वत से वेष्टित कर्वट हैं। ५०० ग्रामों से संयुक्त मडंब हैं। जहाँ रत्नादि वस्तुओं की निष्पत्ति होती है, वे पत्तन हैं। नदी से वेष्टित को द्रोण, समुद्र की वेला से वेष्टित संवाह और पर्वत के ऊपर बने हुए को दुर्गाटवी कहते हैं।

प्रत्येक विदेह देश में प्रधान राजधानी और महानदी के बीच स्थित आर्यखण्ड में एक-एक उपसमुद्र है, और उस समुद्र में एक-एक टापू है, जिस पर ५६ अन्तरद्वीप, २६ हजार रत्नाकर और रत्नों के क्रय-विक्रय के स्थानभूत ऐसे ७०० कुक्षिवास होते हैं।

सीता-सीतोदा नदियों के समीप जल में पूर्वादि दिशाओं में मागध, वरतनु और प्रभास नामक व्यंतर देवों के तीन द्वीप हैं।

विदेह क्षेत्र में वर्षा ऋतु —

विदेह क्षेत्र में वर्षाकाल में सात प्रकार के कालमेघ सात-सात दिन तक अर्थात् ४९ दिनों तक और द्रोण नाम वाले बारह प्रकार के श्वेत मेघ सात-सात दिन तक (१२×७=८४ दिनों तक) बरसते हैं। इस प्रकार वहाँ वर्षा ऋतु में कुल ४९+८४=१३३ दिन मर्यादा पूर्वक वर्षा होती है।

विदेह देश में क्या-क्या नहीं हैं? —

विदेह क्षेत्र में सर्वत्र कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता है। सात प्रकार की "ईति" नहीं है। १. अतिवृष्टि २. अनावृष्टि ३. मूषक प्रकोप ४. शलभ प्रकोप (टिड्डी) ५. शुक प्रकोप ६. स्वचक्र प्रकोप और ७. परचक्र

प्रकोप-ये सात ईतियाँ वहाँ नहीं हैं तथा गाय या मनुष्य आदि जिसमें अधिक मरने लगें उसे मारि रोग कहते हैं वह भी वहाँ नहीं है। वहाँ कुदेव, कुलिंगी साधु और कुमत भी नहीं है अर्थात् वहाँ पर दुर्भिक्ष, ईति, मारि रोग, कुदेव, कुलिंगी और कुमतों का अभाव है।[१]

यहाँ विदेह में हमेशा चतुर्थकाल सदृश ही वर्तना रहती है अर्थात् सतत ही उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले मनुष्य होते हैं और वहाँ मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है। वहाँ पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्णन होते हैं जो कि असि, मषि, कृषि आदि के द्वारा आजीविका करते हैं। वहाँ पर हमेशा गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म चलता रहता है तथा हमेशा ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण होते रहते हैं। इस जम्बूद्वीप के ३२ विदेहों में यदि अधिक से अधिक तीर्थंकर आदि होते हैं तो ३२ होते हैं और कम से कम ४ अवश्य होते हैं। वहाँ चार तीर्थंकर आज भी विद्यमान है जिनके नाम हैं-सीमंधर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु। ये विहरमाण तीर्थंकर भी कहलाते हैं ऐसे ही पाँचों मेरु संबंधी ३२×५=१६० विदेह होते हैं। उनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि भी अधिक रूप से १६० और कम से कम २० माने गये हैं।[२]

चौदह नदियाँ —

हिमवान आदि छह पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे छह सरोवर हैं इनमें पद्म तथा पुण्डरीक सरोवर से तीन एवं शेष चार सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं। जिनके नाम हैं — गंगा-सिंधु, रोहित-रोहितास्या, हरित-

१. त्रिलोकसार गाथा ६७४ से ६८० तक।

२. त्रिलोकसार गाथा ६८१।

हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा। ये चौदह नदियाँ दो-दो मिलकर भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

इस क्षेत्र का विस्तार ५२६-६/१९ योजन है। इसके बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा ५० योजन चौड़ा और २५ योजन ऊँचा एक विजयार्ध पर्वत है इसमें दक्षिण उत्तर बाजू में विद्याधरों की नगरियां हैं। इस पर्वत में दो गुफाएं हैं जिनके नाम हैं-तमिस्र गुफा, खण्डप्रपात गुफा। हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्वतोरण द्वार से गंगा नदी एवं पश्चिम तोरण द्वार से सिंधु नदी निकलकर ५००-५०० योजन तक पूर्व-पश्चिम दिशा में पर्वत पर ही बहकर पुनः दक्षिण की ओर मुड़कर पर्वत के किनारे आ जाती है। वहाँ पर गोमुख आकार वाली नालिका से नीचे गिरती है। हिमवान पर्वत की तलहटी में नदी गिरने के स्थान पर गंगा-सिंधु कुण्ड बने हुए हैं। जिनमें बने कूटों पर गंगा सिंधु देवी के भवन हैं। भवन की छत पर फूले हुए कमलासन पर अकृत्रिम जिन प्रतिमा विराजमान हैं। उन प्रतिमा के मस्तक पर जटाजूट का आकार बना हुआ है। ऊपर से गिरती हुई गंगा-सिंधु नदियाँ ठीक भगवान् की प्रतिमा के मस्तक पर अभिषेक करते हुए के समान पड़ती हैं। पुनः कुण्ड से बाहर निकल कर क्षेत्र में कुटिलाकार से बहती हुई पूर्व-पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं।

इसलिए इस भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिंधु नदी के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से जो दक्षिण की तरफ बीच का खण्ड है वह आर्यखण्ड है, शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। उत्तर की तरफ के तीन म्लेच्छ खण्डों में से

बीच वाले म्लेच्छ खण्ड में एक वृषभाचल पर्वत है। चक्रवर्ती जब इन छहों खण्डों को जीत लेता है तब अपनी विजय प्रशस्ति इसी पर्वत पर लिखता है।

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के मध्य में अयोध्या नगरी है। इस अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूरी पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है। अर्थात् आर्यखण्ड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर दिशा में विजयार्ध, पूर्व दिशा में गंगा नदी एवं पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी है। ये चारों आर्यखण्ड की सीमारूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण में ४७६००० मील (चार लाख छियत्तर हजार मील) जाने से लवण समुद्र है और उत्तर में ४७६००० मील जाने से विजयार्ध पर्वत है। उसी प्रकार अयोध्या से पूर्व ४००००००(चालीस लाख) मील दूर पर गंगा नदी तथा पश्चिम में इतनी ही दूर पर सिन्धु नदी है। आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्यखण्ड में है। हम और आप सभी इस आर्यखण्ड में ही भारतवर्ष में रहते हैं। इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड से विदेह क्षेत्र की दूरी २० करोड़ मील से अधिक ही है। भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में सदा ही अरहट घड़ी यंत्र के समान छह कालों का परिवर्तन होता रहता है।

षट्काल परिवर्तन —

"भरत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो कालों के द्वारा षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इनमें से अवसर्पिणीकाल

में जीवों के आयु, शरीर आदि की हानि एवं उत्सर्पिणी में वृद्धि होती रहती है।[१]"

अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा ऐसे छह भेद हैं। ऐसे ही उत्सर्पिणी के इनसे उल्टे अर्थात् दुःषमादुःषमा, दुःष्षमा, दुःषमासुषमा, सुषमादुःषमा सुषमा, और सुषमासुषमा ये छह भेद हैं।

अवसर्पिणी के सुषमासुषमा की स्थिति ४ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा की ३ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमादुःषमा की २ कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषमासुषमा की ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, दुषमा की २१ हजार वर्ष की एवं अतिदुःषमा की २१ हजार वर्ष की है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में २१ हजार वर्ष से समझना।

इन छह कालों में से प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है तथा चौथे, पाँचवे और छठे काल में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। उत्तम भोगभूमि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। मध्यम भोगभूमि में शरीर की ऊंचाई दो कोश, आयु दो पल्य की होती है और जघन्य भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई एक कोश और आयु एक पल्य की है। यहाँ पर दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है। चतुर्थ काल में उत्कृष्ट अवगाहना सवा पाँच सौ धनुष, और उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष है। पंचम काल में शरीर की ऊँचाई ७ हाथ और आयु १२० वर्ष है। छठे काल में शरीर २

१. अरहेसुरेवदेसु य ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा।
उस्सेघाउबलाणं हाणी वड्ढी य होंतित्ति।। ७७१।। त्रिलोकसार

हाथ का और आयु २० वर्ष है।

इस वर्तमान की अवसर्पिणी में —

"तृतीय काल में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहने पर प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराज और उनके पुत्र ऋषभदेव ये कुलकर उत्पन्न हुए हैं।"[१]

अन्यत्र ग्रंथों में नाभिराय को १४वाँ अंतिम कुलकर माना है। यहाँ पर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को भी कुलकर संज्ञा दे दी है।

इस युग में कर्मभूमि के प्रारंभ में तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने जब प्रजा आजीविका की समस्या लेकर आई, तभी प्रभु की आज्ञा से इन्द्र ने ग्राम, नगर आदि की रचना कर दी। पुनः प्रभु ने अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की सारी व्यवस्था को ज्ञातकर प्रजा में वर्ण व्यवस्था बनाकर उन्हें आजीविका के साधन बतलाये थे। यही बात श्री नेमिचन्द्राचार्य ने भी कही है–

नगर, ग्राम, पत्तन आदि की रचना, लौकिक, शास्त्र, असि, मषि, कृषि, आदि लोक व्यवहार और दया प्रधान धर्म का स्थापन, आदिब्रह्मा श्री ऋषभनाथ तीर्थंकर ने किया है।[२]

---

१. त्रिलोकसार गाथा ७९२-७९३-७९४।

२. पुरगामवट्टणादी लोहियसत्यं च लोयववहारा।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबह्मेण।। ८०२।। (त्रिलोकसार)

(१५)

एक समय स्वर्ग से इन्द्र के साथ देवगण आकर तीर्थंकर ऋषभदेव महाराज का सम्राट पद पर अभिषेक करने के लिए महाराजा नाभिराय के अनुमति प्राप्त कर बहुत वैभव के साथ राज्याभिषेक महोत्सव मनाते हैं। उस समय समस्त आर्यखण्ड आनन्द से भर जाता है और अयोध्या नगर देव-देवियों से खचाखच भर जाता है। देवों ने अयोध्या नगरी को खूब अच्छी तरह से सजाई है। प्रजा के लोगों ने अपने-अपने मकानों के अग्रभाग पर पताकायें लगाई हैं जो कि आकाश में फहरा रही हैं। उस समय राजमन्दिर में आनन्दभेरियाँ बज रही हैं, स्त्रियाँ मंगलगान गा रही हैं और देवांगनाएं नृत्य कर रही हैं। गन्धर्वजाति के देव मंगलस्तोत्रों के साथ तीर्थंकर प्रभु का पराक्रम गा रहे हैं, और देवगण मिलकर —

'हे नाथ! त्वं जय जीव, वर्धस्व, वर्धस्व।"

इत्यादि पदों के द्वारा जय-जय नाद कर रहे हैं।

राज्याभिषेक के पहले देव कारीगरों ने आनन्द मण्डप बनाया है और उसके मध्य में मिट्टी की वेदी बनाई है। उस पर रत्नों के चूर्ण से रांगोली-चित्ररचना की गई है और सर्वत्र नाना वर्ण के फूल बिखेरे गये हैं। ऊपर से चनेवा बाँधा गया है, मोतियों और मणियों से निर्मित तोरण द्वार सजाये गये हैं। वेदी में मंगलद्रव्य और मंगलकलश स्थापित हैं। देवियाँ अष्ट मंगलद्रव्य को हाथ में धारण कर खड़ी हैं। देवअप्सरायें चँवर ढोर रही हैं और देवगण मंगलस्नान की सामग्री लेकर वहाँ आ रहे हैं।

उसी समय राजमहल के आँगनरूपी रंगभूमि में सौधर्मइन्द्र योग्य सिंहासन पर पूर्व की ओर मुख करके श्री ऋषभदेव को बैठाते हैं। तब देवों द्वारा मृदंग आदि वाद्य बजाये जाने लगते हैं जिनका

गंभीर नाद सारे लोक में व्याप्त हो जाता है। किन्नरियाँ वीणा बजाती हुई संगीत स्वर के साथ प्रभु का यश गाने लगती हैं। प्रभु के अभिषेक के लिए गंगा-सिन्धु इन दोनों महानदियों का जल लाया जा रहा है जो कि हिमवानपर्वत के शिखर से धारारूप में नीचे गिरते समय ही लिया जाता है नीचे गिरकर पृथ्वीतल से स्पर्शित होने के पहले ही घड़ों में भरा जा रहा है। इसी प्रकार ऊपर पड़ती हुई अन्य नदियों का पवित्र जल भी लाया जा रहा है।

इन्द्र स्वयं खड़े होकर बड़े हर्ष से श्री ऋषभदेव के मस्तक पर घड़े से जलधारा डालते हुए राज्याभिषेक कर रहा है। अन्य देवगण भी भक्ति से विभोर होकर प्रभु का अभिषेक कर रहे हैं। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ भी अपने-अपने सरोवरों से जल लाकर मंगल अभिषेक कर रही हैं। नन्दीश्वर द्वीप में जो नन्दा, नन्दोत्तरा आदि बावड़ियाँ हैं उनके जल से भी अभिषेक किया जा रहा है। इसके सिवाय लवणसमुद्र, क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, और स्वयंभूरमण समुद्र के जल को लाकर भी देवगण अभिषेक कर रहे हैं। इन्द्र उस समय स्वयं पवित्र जगद्गुरु ऋषभदेव के शरीर का ही प्रक्षालन नहीं कर रहे थे प्रत्युत् देखने वाले देवों और मनुष्यों की मनोवृत्ति, नेत्र और शरीर का भी प्रक्षालन कर रहे थे। अर्थात् उस समय दर्शकों के मन का पाप मैल धुल रहा था, उन्हें पुण्यबंध हो रहा था, उनके नेत्र पवित्र और तृप्त हो रहे थे तथा प्रत्येक दर्शक के शरीर पर अभिषेक के जल के छींटे पड़ने से उनके शरीर भी पवित्र हो रहे थे। उस समय प्रभु के अभिषेक के बहते हुए जल से सब तरफ पृथ्वी व्याप्त हो गई थी सो ऐसा मालूम पड़ता था मानो स्वामी ऋषभदेव की राज्य-सम्पदा से संतुष्ट होकर अपने शुभ

भाग्य से यह पृथ्वी बढ़ ही रही है।

महाराजा नाभिराज स्वयं ही 'सब राजाओं में श्रेष्ठ ये ऋषभदेव वास्तव में सम्राट् के योग्य हैं।' ऐसा कहते हुए ऋषभदेव का राज्याभिषेक करते हैं। तभी अन्य और राजागण भी एक साथ मिलकर प्रभु का अभिषेक कर रहे हैं। अयोध्या नगर के निवासी भी आकर बड़े ही प्रेम से अपने स्वामी का अभिषेक करना शुरू कर देते हैं। कोई बड़े-बड़े घड़ों पर खिले हुए कमल रखकर उनसे अभिषेक कर रहे हैं। कोई सरयू नदी के जल को मिट्टी के घड़ों में लाकर अभिषेक कर रहे हैं और कोई कमलपत्र के दोने बनाकर उसमें जल भर कर अभिषेक कर रहे हैं। उसी समय मागध आदि व्यन्तर देवों के इन्द्र भी आकर "ये हमारे देश के स्वामी हैं।"ऐसा कहते हुए अभिषेक करते हैं।

तीर्थंकर ऋषभदेव का सबसे पहले तीर्थजल से अभिषेक किया गया, फिर कषाय के जल से (औषधिमिश्रित द्रव्य से) अभिषेक किया गया, और पुनः सुगंधित द्रव्यों से मिले हुए ऐसे सुगंधित जल से अभिषेक किया गया। अभिषेक पूर्ण होने के बाद महाराजा ऋषभदेव ने स्वयं कुछ-कुछ गरम जल से भरे हुए ऐसे सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर सुखकारी स्नान किया, पश्चात् स्नान करने के अंत में माला, वस्त्र और आभूषण उतारकर पृथ्वी पर छोड़ दिए, उस समय पृथ्वीरूपी स्त्री ऐसी मालूम होती थी कि मानो उसे स्वामी के शरीर से स्पर्शित वस्तुएं ही प्रदान की गई हों।

तदनन्तर अभिषेक विधि संपन्न हो जाने के बाद देवगण स्वर्ग से लाए हुए वस्त्र, आभूषण और माला आदि से सम्राट ऋषभदेव को अलंकृत करने लगे। देवांगनाएं प्रभु की मंगल आरती उतारने लगीं। अनंतर महाराजा नाभिराय स्वयं अपने मस्तक पर मुकुट अपने हाथ से उतार कर—

"महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति तीर्थंकर ऋषभदेव ही हैं।" ऐसा कहते हुए प्रभु के मस्तक पर मुकुट पहना देते हैं। तभी जय-जयकारों के नाद से पृथ्वी और आकाश गुंजायमान हो उठते हैं। उसी समय सौधर्म इन्द्र जगत् मात्र के एक बन्धु ऐसे ऋषभदेव के ललाट पर पट्ट बंध करता है। सो ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो यहाँ-वहाँ भागने वाली राज्य लक्ष्मी को स्थिर करने वाला एक बन्धन ही हो। उस समय सम्राट ऋषभदेव के गले में मालाएं शोभ रही हैं। दोनों कानों में कुण्डल चमक रहे हैं। कमर में करधनी लटक रही है और कण्ठ में हारलता प्रभु की शोभा बढ़ा रही है। जिस प्रकार हिमवान पर्वत गंगा का प्रवाह धारण करता है, उसी प्रकार प्रभु भी अपने कंधे पर यज्ञोपवीत[१] धारण किए हुए हैं।' उनकी दोनों लम्बी भुजाएँ कड़े, बाजूबन्द और अनन्त आदि आभूषणों से विभूषित हो रही हैं। उनके चरणों में नीलमणि से बने हुए नूपुर शोभ रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक अंग में पहने हुए आभूषणरूपी संपदा से आदिब्रह्मा सम्राट् ऋषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष ही हों। इसके बाद नाट्य शास्त्र का ज्ञाता इन्द्र उस सभा रूपी रंगभूमि में आनन्द के साथ आनन्द नाम का नाटक करके अपने आराध्य प्रभु ऋषभदेव की उपासना करता है तथा महाराजा नाभिराय आदि सर्व राजा-प्रजा को प्रसन्न करके अपने देवगणों के साथ स्वर्ग की ओर प्रस्थान कर देता है।

अनन्तर सम्राट ऋषभदेव प्रजा का पालन करने के लिए सबसे पहले प्रजा की सृष्टि का विभाग करते हैं फिर उनकी आजीविका के नियम बनातेहैं कि जिससे प्रजा अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सके। आदिब्रह्मा ने

१. ब्रह्मसूत्रोपवतीताङ्गः स गाङ्गौघमिवाद्रिराट् ।।२३५।।
(आदिपुराण पर्व १६)

अपनी दोनों भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्र विद्या का उपदेश दिया था क्योंकि जो हाथों में तलवार आदि लेकर सबल शत्रुओं के प्रहार से निर्बलों की रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं। तदनन्तर प्रभु ने अपने ऊरुओं से यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश आकर धन कमाना सिखलाकर वैश्यों की रचना की, सो ठीक ही है कि जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है। हमेशा दैन्यवृत्ति में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना बुद्धिमान् ऋषभदेव ने पैरों से की, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा शुश्रूषा आदि करना ही उनकी अनेक प्रकार की आजीविका है। इस प्रकार तीन वर्णों की सृष्टि (व्यवस्था) तो तीर्थंकर ऋषभदेव ने की है तथा ब्राह्मण वर्ण की रचना उनके पुत्र भरत ने सम्राट होने के बाद में की है।[१]

सम्राट ऋषभदेव ने उस समय यह नियम बनाये कि शूद्र, शूद्र की आजीविका ही करे अन्य न करे। वैश्य वैश्यवृत्ति ही करे कदाचित् शूद्रवृत्ति भी कर सकता है। क्षत्रिय क्षत्रिय आजीविका ही करे कदाचित वह भी शूद्र और वैश्य की कर सकता है किंतु अपनी-अपनी इन आजीविकाओं को छोड़कर जो कोई भी अन्य की वृत्ति-आजीविका को करेगा वह राजाओं द्वारा दण्डनीय होगा और यदि ऐसा नहीं करेंगे तो वर्णसंकर हो जावेगा[२]।

१. यहाँ पर ऐसा समझना कि जैसे अन्य संप्रदाय में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं ऐसी मान्यता है। उसी मान्यता के अनुरूप उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा आचार्यदेव ने यहाँ पर आदि ब्रह्मा से की गई वर्ण व्यवस्था को बताया है।

२. स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत् । स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा।।२४८।। (आदिपुराण, पर्व १६)

सम्राट् आदि ब्रह्मा ने इस आजीविका के नियम के पहले ही असि, मषि आदि षट् क्रियाओं का उपदेश दिया था। इसलिए इन षट् कर्मों की व्यवस्था होने से यह आर्यखण्ड की भूमि तभी से कर्म भूमि कहलाने लगी थी। इसी प्रकार आदिब्रह्मा ने प्रजा के योग (नवीन वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) की रक्षा के लिए 'हा, मा, और धिक्' इन तीन दण्डों की व्यवस्था कर दी। दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना और सज्जन पुरुषों का पालन करना यह व्यवस्था भोगभूमि में नहीं थी क्योंकि उस समय पुरुष निरपराधी होते थे और अब कर्मभूमि में अपराध शुरू हो जाने से दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता हो गई थी।

अब कर्मभूमि में न्याय करने वाले राजाओं की आवश्यकता समझकर आदि ब्रह्मा ने 'हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ' इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया, तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें 'महामण्डलीक' राजा बनाया। ये राजा चार-चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति हुए हैं। उस समय 'सोमप्रभ' भगवान् से 'कुरुराज' नाम पाकर कुरुदेश का राजा हुआ और कुरुवंश का शिखरमणि कहलाया। हरि सम्राट ऋषभदेव की आज्ञा से 'हरिकान्त' नाम को धारण कर हरिवंश को अलंकृत करने लगा। अकम्पन भी प्रभु से 'श्रीधर' नाम पाकर नाथवंश का नायक हुआ और काश्यप भी जगद्गुरु आदिदेव से 'मघवा' नाम प्राप्त कर उग्रवंश का मुख्य राजा माना जाने लगा[१]।

इसके बाद सम्राट आदिब्रह्मा ने कच्छ, महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओं का सत्कार कर उन्हें 'अधिराज' के पद पर स्थापित

१. आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक २५६ से २६१।

किया। पुनः अपने पुत्रों के लिए यथायोग्य महल, सवारी आदि अन्य अनेक प्रकार की संपत्ति का विभाग कर दिया था।

इसके बाद सम्राट आदिब्रह्मा ने कच्छ, महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओं का सत्कार कर उन्हें 'अधिराज' के पद पर स्थापित किया। पुनः अपने पुत्रों के लिए भी यथायोग्य महल, सवारी आदि अन्य अनेक प्रकार की संपत्ति का विभाग कर दिया था।

उस समय आदिब्रह्मा ने मनुष्यों को इक्षुरस निकालने का उपदेश दिया था, इसलिए जगत् के लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे। गो शब्द का अर्थ स्वर्ग है और उत्तम स्वर्ग गौतम है, ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि से आए थे, इसलिए लोग उन्हें गौतम कहने लगे। काश्य-तेज, इस तेज के रक्षक प्रभु 'काश्यप' कहलाते थे प्रजा की आजीविका के उपायों को बतलाने से वे 'मनु', 'कुलकर' और 'कुलधर' भी कहलाए थे तथा वर्ण व्यवस्था आदि बनाने से प्रजा उन्हें 'विधाता', विश्वकर्मा', ब्रह्मा और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामों से पुकारती थी। इस प्रकार सम्राट् ऋषभदेव राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होकर पुण्योदय से प्राप्त हुई साम्राज्य लक्ष्मी का अनुभव कर रहे हैं। स्वर्ग से सौधर्म इन्द्र सदा ही उनके विशाल पुण्ययोग से नाना प्रकार की भोगोपभोग सामग्री भेजता रहता है। पुत्र-पौत्र आदि से घिरे हुए प्रभु का राज्य भोग में कितना अधिक समय निकल गया है, यह किसी को पता भी नहीं लग रहा है।

(१६)

तीर्थंकर ऋषभदेव विशाल सभा मण्डप के मध्य राज्यसिंहासन पर विराजमान हैं। उस समय सौधर्म इन्द्र बहुत से देवों और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री साथ लेकर वहाँ आता है। तीर्थंकर प्रभु को

नमस्कार कर इन्द्र उन जगत् प्रभु की आराधना करने की इच्छा से अप्सराओं और गंधर्वों का नृत्य कराना प्रारंभ करता है। प्रभु ऋषभदेव नृत्य का अवलोकन कर रहे हैं। जैसे अत्यन्त शुद्ध स्फटिकमणि भी अन्य पदार्थों के संसर्ग से रागलालिमा को धारण कर लेती है उसी प्रकार उस धार्मिक नृत्य के आयोजन ने प्रभु के मन को भी अनुरक्त बना लिया है। उस नृत्य में तीर्थंकर के गुणों का आख्यान किया जा रहा है और पुण्य की महिमा गाई जा रही है।

"प्रभु राज्य और भोगों से किस प्रकार विरक्त होंगे। क्योंकि इन्हीं के द्वारा अब धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलने वाली है।"

ऐसा विचार कर इन्द्र उस समय नृत्य करने के लिए एक ऐसे पात्र को नियुक्त करता है कि जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो चुकी है। वह नृत्य करने वाली अप्सरा अत्यन्त सुन्दरी नीलांजना नाम की नर्तकी है। प्रभु के सामने भक्ति में विभोर हो वह नर्तकी रस, भाव और लय सहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इतने में ही उसकी आयु समाप्त हो गई और वह अदृश्य हो गई। जिस प्रकार बिजली देखते-देखते क्षणभर में विलीन हो जाती है उसी प्रकार वह नीलांजना अप्सरा भी देखते-देखते क्षणभर में नष्ट हो गई।

'रस में भंग न हो' इस भय से सौधर्म इन्द्र तत्क्षण ही दूसरी अप्सरा को उसी स्थान पर खड़ी कर देता है। नृत्य ज्यों का त्यों चल रहा है। दूसरी देवी खड़ी कर देने के बाद भी यद्यपि वही मनोहर स्थान है और वही नृत्य का परिक्रम है तथापि तीर्थंकर ऋषभदेव उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर समझ लेते हैं किन्तु सभा के अन्य लाखों सभासद इस रहस्य को नहीं जान पाते हैं।

प्रभु ऋषभदेव उसी समय भोगों से विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावना को प्राप्त हुए मन में सोचते हैं—

"अहो! यह विश्व विनश्वर है, लक्ष्मी बिजली के समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी क्षणभंगुर हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि अज्ञ पुरुष इन सबमें स्थिर बुद्धि कर रहा है। यह आयु की स्थिति घटीयंत्र के जल की धारा के समान शीघ्रता से गलती जा रही है—कम होती जाती है। यह निश्चित है कि इस असार संसार में सुख का लेश मात्र भी दुर्लभ है और दुःख बहुत भारी है फिर भी आश्चर्य है कि मंद बुद्धि पुरुष उसमें सुख की इच्छा करते हैं। इस जीव ने नरकों में जो महान् दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जावे तो फिर ऐसा कौन है, जो इन इन्द्रिय भोगों की इच्छा करेगा? निरन्तर आर्तध्यान में लगे हुए जीव जितने कुछ भोगों का अनुभव करते हैं वे सब उन्हें अत्यन्त असाता के उदय से भरे हुए नरकों में दुःख रूप होकर उदय में आते हैं। दुःखों से भरे हुए नरकों में कभी स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होता है क्योंकि वहाँ रात-दिन दुःख ही दुःख रहता है और ऐसा दुःख होता है जो कि पुनः दुःख के कारण ऐसे असाता कर्म का ही बंध कराने वाला होता है।

उन नरकों से निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ तिर्यंच गति के बड़े भारी दुःखों को भोगता है। बड़े दुःख की बात है कि यह अज्ञानी प्राणी पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में पुनः पुनः जन्म लेता हुआ न जाने कितने दुःख भोगता है। त्रस पर्याय में भी यह प्राणी मारा जाना, बांधा जाना, रोका जाना और पीड़ित किया जाना आदि के द्वारा जीवन

पर्यंत अनेक कष्टों को झेलता रहता है।

कदाचित् अशुभ कर्मों का उदय कुछ मंद होने से यह जीव मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि यहाँ पर वह जीव दुःखों को नहीं चाहता है फिर भी कर्म के वश में होने से इसे नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं। दूसरों की सेवा करना, दरिद्र होना, चिन्ता से आकुल-व्याकुल रहना, व्याधियों से व्यथित होना, इष्ट का वियोग हो जाना अथवा अनिष्ट का संयोग हो जाना आदि बहुत प्रकार के ऐसे दुःख हैं जो कि प्रत्यक्ष नरक के समान मालूम पड़ते हैं।

यद्यपि देव पर्याय में जीवों को कुछ सुख प्राप्त होता है तथापि जब स्वर्ग से पतन होता है तब इसे सबसे अधिक दुःख प्राप्त होता है। देवों में भी इष्ट वियोग, अल्पविभूति, अन्य देवों के वाहन आदि बनने के अनेक दुःख हैं जो कि उस देव को संतप्त कर पुनः एकेन्द्रिय पर्याय में ला पटकते हैं। इस प्रकार यह बेचारा दीन प्राणी संसाररूपी चक्र में अनेक परिवर्तन करता हुआ अनंतकाल व्यतीत कर देता है।

देखो, यह अत्यन्त मनोहर स्त्रीरूपी यन्त्र हमारे साक्षात् देखते-देखते किस प्रकार नाश को प्राप्त हो गया? इन्द्र ने जो यह कपट नाटक किया है—नीलांजना का नृत्य कराया है सो अवश्य ही उस बुद्धिमान ने सोच-विचार कर हमारे बोध कराने के लिए ही कराया है।

जगद्गुरु तीर्थंकर ऋषभदेव विरक्त हो गये हैं' यह बात उसी क्षण इन्द्र अपने अवधिज्ञान से जान लेता है तथा उसी समय तपकल्याणक की पूजा करने के लिए लौकांतिक देव ब्रह्मलोक से उतर कर वहाँ आ जाते हैं। वे लौकांतिक देव सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकार के हैं। ये सभी देवों

में उत्तम हैं, बाल ब्रह्मचारी हैं तथा सम्पूर्णश्रुत के ज्ञाता हैं अतः ये देवर्षि कहलाते हैं। ये पाँचवे ब्रह्मस्वर्ग में उपरिम भाग में रहते हैं तथा एक भवावतारी होते हैं। ये अन्य कल्याणकों में न आकर मात्र तप कल्याणक में ही आते हैं।

ये लौकान्तिक देव सभा में आकर पहले तीर्थंकर देव के चरणों के समीप पुष्पांजलि छोड़ते हैं पुनः कल्पवृक्षों के फलों से प्रभु के चरणों की पूजा करके अनेक अर्थ से भरे हुए स्तोत्रों से प्रभु की स्तुति करना प्रारंभ कर देते हैं—

हे देव! आपने जो इस समय मोहरूपी शत्रु को जीतने के उद्योग की इच्छा की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि आप भव्यजीवों के साथ भाईपने का कार्य करने जा रहे हैं। हे नाथ! आज आपके द्वारा दिखलाए हुए धर्मरूपी तीर्थ को पाकर भव्यजीव इस दुस्तर और भयानक संसाररूपी समुद्र से लीलामात्र में पार हो जायेंगे। हे भगवन् ! आप स्वयंबुद्ध हैं, मति, श्रुत और अवधिज्ञानरूपी तीन निर्मल नेत्रों के धारक हैं, इसलिए हमारे जैसे देवों के द्वारा आप प्रबोध कराने के योग्य नहीं है। तथापि हम लोगों का यह नियोग ही आज हम लोगों को वाचालित कर रहा है। हे स्वामिन् ! आप प्रथम गर्भ कल्याणक में सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही अवतार लेने वाले कहलाये, द्वितीय जन्मकल्याणक में वामता अर्थात् सुन्दरता को प्राप्त हुए और अब उसके अनन्तर तृतीय तपकल्याणक में अघोरता अर्थात् सौम्यता को धारण कर रहे हैं। हे नाथ! अनादि प्रवाह से चला आया यह काल अब आपके धर्मरूपी अमृत को उत्पन्न करने के योग्य हुआ है अतः हे विधाता! अब आप धर्म की सृष्टि कीजिये।"

इत्यादि प्रकार से स्तुति करके वे लौकांतिक देव प्रभु को पुनः-

पुनः नमस्कार कर स्वस्थान को चले जाते हैं। तभी आसन के कम्पित होने आदि कारणों से प्रभु के तप कल्याणक का अवतार जानकर असंख्य देवगण अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ हो वहाँ आ जाते हैं।

इसके बाद तीर्थंकर ऋषभदेव अपने बड़े पुत्र भरत का साम्राज्य पद पर अभिषेक करके उनसे इस भारतवर्ष को सनाथ कर देते हैं और बाहुबली को युवराज पद पर स्थापित कर देते हैं तथा शेष निन्यानवे पुत्रों को भी उनके योग्य पृथक्-पृथक् अनेक देशों का राज्य विभाजित कर देते हैं।

उस समय इंद्राणी प्रभु के मंगलस्नान के लिए नाना रत्न चूर्णों से रंगावली बना रही है। तो दूसरी तरफ माता-यशस्वती और सुनन्दा अपने पुत्रों के राज्याभिषेक के लिए मंगल चौक पूर रही हैं।

उसी क्षण सौधर्मइन्द्र आदि इन्द्रगण मिलकर क्षीरसागर के जल से प्रभु का मंगल अभिषेक कर उन्हें अनेक दिव्य वस्त्र आभूषण अलंकारों से अलंकृत करते हैं। पुनः 'सुदर्शना' नामकी सुन्दर पालकी सामने लाकर रख देते हैं। तीर्थंकरदेव महाराजा नाभिराय आदि परिवार के लोगों की स्वीकृति लेकर उस पालकी पर आरूढ़ होते हैं। प्रभु की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैंड तक ले जाते हैं पुनः विद्याधर राजागण उस पालकी को आकाश में सात पैंड तक लेकर चलते हैं। अनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देव अत्यन्त हर्षित हो वह पालकी अपने कंधों पर रखते हैं और आकाश मार्ग से चलने लगते हैं। उस समय स्वयं सौधर्म आदि इन्द्र प्रभु की पालकी ढो रहे हैं। यक्ष जाति के देव सुगंधित पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, और गंगा नदी के जलकणों से मिश्रित वायु बह रही है। देव बंदीजन उच्चस्वर से मंगल पाठ पढ़ रहे हैं और देवगण चारों ओर मंगल

प्रस्थान सूचक भेरियाँ बजा रहे हैं। इन्द्र की आज्ञा पाकर देव जोर-जोर से जयनाद करते हुए यही घोषणा कर रहे हैं कि—

"जगद्गुरु ऋषभदेव के मोह शत्रु को जीतने के लिए उद्योग करने का यह बहुत ही सुन्दर समय है। अब भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का समीचीन ज्ञान प्राप्त होने वाला है।"

आकाशरूपी आँगन में देव अप्सरायें नृत्य कर रही हैं और उस मंगल प्रस्थान में इन्द्रों के करोड़ों दुंदुभि बाजे बज रहे हैं। हाथों में कमल धारण किए हुए लक्ष्मी आदि देवियां आगे-आगे चल रही हैं। बड़े आदर से अष्ट मंगल द्रव्य तथा अर्घ लेकर दिक्कुमारी देवियाँ उनके साथ-साथ चल रही हैं। पालकी के इधर-उधर आकाश में ही अधर इन्द्रगण चँवर ढोर रहे हैं। इस प्रकार असंख्य महोत्सव से सहित तीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्या के बाहर निकलते हैं।

भगवान् के प्रस्थान करने पर यशस्वती आदि रानियाँ मंत्रियों सहित भगवान् के पीछे-पीछे चल रही हैं। उस समय शोक से उनके नेत्रों में आंसू भरे हुए हैं। बहुत सी अंतःपुर की रानियाँ रो रही हैं।उस समय वृद्ध पुरुष उन्हें समझाते हैं—

"हे बाले! स्वामी के मंगल प्रस्थान में रोकर अमंगल मत करो।" बहुत सी महिलाओं को कुछ दूर जाने के बाद कुछ वृद्धजनों ने ऐसा कहकर रोक दिया कि—

"भगवान् की आज्ञा है अब आप लोग वापस जाइये।"

तब नदी के प्रवाह के समान बहुत बड़ा स्त्री समुदाय वहीं मार्ग से वापस लौट आता है किन्तु स्वामी की इच्छानुसार चलने वाली यशस्वती और सुनंदा ये दोनों ही महादेवियां अंतःपुर की मुख्य-मुख्य स्त्रियों से

परिवृत होकर पूजा की सामग्री साथ लेकर प्रभु के पीछे-पीछे पैदल ही चली जा रही हैं। उस समय महाराजा नाभिराय भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत होकर तीर्थंकरदेव के तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिए पालकी के पीछे-पीछे चल रहे हैं। सम्राट् भरत भी मंत्रीगण, नगर निवासी, राजा लोग तथा अपने छोटे भाइयों के साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान् के पीछे-पीछे चल रहे हैं।

इस प्रकार प्रभु ऋषभदेव अयोध्या से न बहुत दूर और न अति निकट ही ऐसे 'सिद्धार्थक' नाम के वन में पहुँचते हैं। वहाँ पहले से ही देवों ने 'चंद्रकांत' शिला स्थापित कर रखी थी और स्वयं इन्द्राणी ने अपने हाथ से उस पर दिव्य रत्नचूर्ण से मंगल चौक बनाया था। उस शिला के ऊपर बहुत बड़ा मंडप बनाया गया था। तीर्थंकरदेव पालकी से उतर कर उस शिलापट्ट पर बैठते हैं। उस शिला को देखते ही प्रभु को अपने जन्माभिषेक के समय की पांडुक शिला का स्मरण हो आया।

प्रभु क्षण भर उस शिला पर आसीन होकर मनुष्य, देव तथा धरणेंद्र आदि से भरी हुई इस सभा को यथायोग्य उपदेश के द्वारा संबोधित करते हैं। वे ऊँची और गंभीर वाणी द्वारा अपने बन्धुजनों से दीक्षा की आज्ञा लेते हैं। पुनः जगद्गुरु ऋषभदेव अपने वस्त्र, आभूषण, माला, मुकुट आदि को उतार कर पृथ्वी पर डाल देते हैं और स्वयं की, देवों की तथा सिद्धों की साक्षीपूर्वक दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो जाते हैं। प्रभु पूर्व दिशा की ओर मुख कर पद्मासन से विराजमान हो जाते हैं पुनः "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" उच्चारण पूर्वक सिद्धों को नमस्कार कर पंच मुष्टियों से केशलोंच कर दिगंबर मुद्रा के धारक प्रभु जिनदीक्षा धारण कर लेते हैं। उस समय समस्त सावद्ययोग से विरक्त हो सामायिक

चारित्र धारण कर लेते हैं। चैत्र कृष्णा नवमी का अपरान्ह काल प्रभु की दीक्षा से पवित्र हुआ है। महामुनि ऋषभदेव पुनः जिनमुद्रा से ध्यान में लीन हो जाते हैं।

सौधर्म इन्द्र आदि देवगण प्रभु के केशों को रत्न के पिटारे में रखते हैं तथा तीर्थंकरदेव के द्वारा छोड़े गए वस्त्र, आभूषण और माला आदि की असाधारण पूजा करते हैं। पुनः भगवान् की अनेक स्तोत्रों से स्तुतिकर वे देवगण बहुत ही वैभव के साथ भगवान् के केशों को क्षीर समुद्र में ले जाकर विसर्जित करते हैं।

"ये केश धन्य हैं कि जो तीर्थंकर ऋषभदेव के मस्तक पर अधिष्ठित हुए थे तथा यह पाँचवाँ क्षीर समुद्र भी धन्य है जो इन केशों को भेंट स्वरूप प्राप्त कर रहा है।"

ऐसी प्रशंसा करते हुए वे सभी देवगण प्रभु का तप कल्याणक महोत्सव सम्पन्न कर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

भगवान् के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर उत्तम-उत्तम वंशों में उत्पन्न हुए कच्छ, महाकच्छ आदि बड़े-बड़े चार हजार राजागण भी केवल स्वामी की भक्ति से प्रेरित हो दीक्षित हो गए।

"जो हमारे स्वामी को अच्छा लगता है वही हम लोगों को भी अच्छा लगना चाहिए। स्वामी के अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकों का कर्तव्य है। इस लोक और परलोक संबंधी सभी कार्य के लिए हमें हमारे गुरु भगवान् ऋषभदेव ही प्रमाणभूत हैं।"

यही विचार कर कितने ही स्नेह से, कितने ही मोह से और कितने ही भय से भगवान् को दीक्षित हुए देख उन्हीं के सदृश निर्ग्रंथ बन गये। ये सब भाव से निर्ग्रंथ मुनि न होकर द्रव्यलिंगी साधु हो गये हैं। जिनका

भाव संयम प्रकट नहीं हुआ है, ऐसे उन द्रव्यलिंगी मुनियों से घिरे हुए महायोगी ऋषभदेव छोटे-छोटे कल्पवृक्षों से घिरे हुए एक महान कल्पवृक्ष के समान शोभित हो रहे हैं।

सम्राट भरत भक्ति के भार से अतिशय नम्र हो, पिता के चरणों की पूजा कर स्तुति करते हैं पुनः बाहुबली, वृषभसेन आदि सभी छोटे भाइयों और अनेक राजाओं के साथ अयोध्या नगरी में वापस आ जाते हैं।

(१७)

तीर्थंकर ऋषभदेव जैनेश्वरी दीक्षा लेकर छह मास का योग धारण कर ध्यान में स्थिर खड़े हो गए हैं। तीर्थंकर प्रभु को जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे ही। परिणामों की निर्मलता से उन्हें अंतर्मुहूर्त में ही मनःपर्ययज्ञान भी प्रगट हो चुका है। अतः ये महायोगिराज चार ज्ञानों के द्वारा सब जीवों के पूर्वापर पर्यायों को जानते हुए भी उनसे उपक्षित हो अपनी आत्मा के स्वरूप का ही चिंतवन कर रहे हैं।

तभी कच्छ, महाकच्छ आदि साधुओं में बहुत बड़ा क्षोभ उत्पन्न होने लगता है। अर्थात् जो ये कच्छ आदि चार हजार राजा बिना कुछ समझे ही दीक्षित हो (नग्न हो) खड़े हो गए थे उनका धैर्य छूटने लगता है। दीक्षा लेकर उन्हें दो तीन माह भी नहीं हुआ था कि अपने को मुनि मानने वाले यह राजा लोग, भूख प्यास से व्याकुल हो अपने-अपने स्थान छोड़कर इधर-उधर विचरण करने लगते हैं और आपस में कहते हैं-

"अहो! देखो तो सही भगवान् पुरुदेव का कितना बड़ा साहस है जो ये निश्चल खड़े हुए हैं। क्या पता ये कब तक इसी तरह खड़े रहेंगे?"

दूसरा कहता है—

"मैंने तो समझा था कि प्रभु एक दो दिन ध्यान करेंगे पुनः

इच्छित कार्य पूर्ण कर वापस अयोध्या चलेंगे। अहो! अब हम लोग यहाँ कितने दिन खड़े रहें, क्या करें? क्या खायें? और कहाँ विश्राम करें?.....प्रभु तो कुछ आदेश भी नहीं देते हैं।"

तीसरा कहता है—

"यदि हम लोग वस्त्र पहन कर वापस अपने-अपने नगर चले जायें तो भरत सम्राट दण्डित करेंगे। अतः अब हम लोग क्या करें? समझ में नहीं आता है।"

इसी प्रकार सभी भूख प्यास से पीड़ित हुए दीनवृत्ति धारण कर इधर-उधर घूमने लगते हैं। पुनः कुछ लोग भगवान् के चरणों को पकड़ कर कहते हैं-

"हे प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए, अब हमारा शरीर भूख से अत्यन्त कृश हो गया है। अतः अब हमें क्षमा कीजिए।"

इसके बाद ये सभी साधु फल खाने की इच्छा से वन के वृक्षों के नीचे पहुँच जाते हैं और अपने हाथ से फल तोड़ कर खाना तथा तालाब का पानी पीना शुरू कर देते हैं। इनको इस अर्हंत मुद्रा (नग्न मुद्रा) में स्वयं तोड़ कर फल खाते, पानी पीते देख कर वन देवता कहते हैं—

"हे अज्ञानियों! यह दिगम्बर मुद्रा सर्वश्रेष्ठ है। अरहंत (तीर्थंकर) तथा चक्रवर्ती के भी धारण करने योग्य है इसे तुम लोग कातरता का स्थान मत बनाओ। इस मुद्रा में तुम लोग स्वयं अपने हाथ से फल मत तोड़ो और तालाब आदि का अप्रासुक पानी मत पीओ।

वन देवता के ऐसे वचन सुनकर ये लोग दिगम्बर वेष में ऐसा करने से डर जाते हैं। तब वे दीन चेष्टा वाले साधु भ्रष्ट होकर अनेक वेष धारण कर लेते हैं। वृक्षों के वल्कल धारण कर फल खाने लगते हैं और

तालाब का पानी पीने लगते हैं। कितने ही लोग जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहन कर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगते हैं। कितने ही लोग शरीर को भस्म से लपेट कर जटाधारी हो जाते हैं, कितने ही एक दण्ड को और कितने ही तीन दण्ड को धारण करने वाले साधु बन जाते हैं। इस प्रकार अनेक वेष धारण कर वन में होने वाले छालरूप वस्त्र, स्वच्छ जल और कन्दमूल आदि के द्वारा बहुत समय तक अपना जीवन निर्वाह करते रहते हैं। ये लोग भरत महाराज के डर से अपने-अपने नगर न जाकर वहीं वन में झोपड़ियाँ बनाकर रहने लगते हैं।

ये लोग पाखण्डी तपस्वी तो बने ही थे उसी में कितने ही परिव्राजक हो जाते हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव का ही पोता मरीचि कुमार भी परिव्राजक होकर योग शास्त्र और सांख्य शास्त्र का उपदेश देकर उनके प्रचार में अग्रणी बन जाता है। ये मिथ्यामत की प्ररूपणा करके मिथ्यात्व की वृद्धि करते हुए भी जल और फूलों के उपहार से भगवान् ऋषभदेव के चरणों की पूजा करते हैं क्योंकि 'स्वयंभू' ऋषभदेव को छोड़कर ये अन्य किसी देवता को नहीं मानते हैं।

भगवान् ध्यान में खड़े हैं। इसी बीच में महाराज कच्छ, महाकच्छ के नमि, विनमि नाम के दो राजपुत्र वहाँ आ जाते हैं, वे बहुत ही सुकुमार और तरुण हैं। दोनों ही भक्ति से निर्भर हो भगवान के चरणों में नमस्कार कर उनके चरणों में लिपट जाते हैं और ध्यान में विघ्न करते हुए प्रार्थना करते हैं-

"हे भगवन् ! आपने अपना यह साम्राज्य अपने पुत्र-पौत्रों के लिए तो बाँट दिया है किन्तु आपने हम दोनों को तो भुला ही दिया। हे स्वामिन् ! प्रसन्न होइए और हम दोनों को भी अब कुछ भोग सामग्री दीजिए।"

इस प्रकार ये दोनों राजकुमार योगिराज ऋषभदेव से बार-बार आग्रह कर रहे हैं। उन्हें उस समय उचित-अनुचित का कुछ भी भान नहीं है। ये दोनों ही जल, पुष्प तथा अर्घ्य से भगवान् की उपासना भी कर रहे हैं और उनसे भोगोपभोग की सामग्री माँग रहे हैं। ये राजपुत्र भगवान् ऋषभदेव की महारानी यशस्वती और सुनन्दा के भाइयों के पुत्र अर्थात् उन रानियों के भतीजे थे।

भगवान् के ध्यान में विघ्न डालते हुए उस समय अकस्मात् धरणेंद्रदेव का आसन कम्पायमान हो जाता है। वह अपने अवधिज्ञान से नमि-विनमि की इस चेष्टा को जानकर वहाँ आता है और प्रभु को सुमेरु समान अचल देख कर बार-बार उनकी प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करता है पुनः अदृश्य होकर उन दोनों कुमारों से कहता है —

"हे तरुण पुरुषों ! कहाँ यह शान्त तपोवन और कहाँ हाथ में शस्त्रों को लिए हुए तुम दोनों राजकुमार? अहो ! यह भोग बड़े ही निन्दनीय हैं जो अयोग्य स्थान में भी याचना कराते हैं। देखो, ये प्रभु तो सर्व राज्य के भोगों को छोड़कर अपनी आत्मसाधना कर रहे हैं। अब ये तुम्हें राज्य लक्ष्मी कैसे देंगे? जिस प्रकार पत्थर के शिखर पर कमल नहीं उगते वैसे ही अब निर्ग्रंथ मुनि से तुम्हें भोग साम्राज्य नहीं मिलेंगे। अतः तुम्हारा यहाँ धरना देना व्यर्थ है। तुम दोनों भोगों के इच्छुक हो अतः भरत की उपासना करने के लिए उन्हीं के पास जाओ। वह सम्राट् है वही तुम्हारी इच्छा पूरी करेगा।"

यह शिक्षा सुनते ही दोनों कहते हैं —

"अहो ! हमारे कार्य में आप क्यों बोल रहे हैं, आप यहाँ से चुपचाप चले जाइए। इस विषय में योग्य अथवा अयोग्य हम लोग स्वयं

जानते हैं। गुरु — भगवान् ऋषभदेव को प्रसन्न करना सब जगह उत्तम ही है। इनकी प्रसन्नता से भला ऐसी क्या वस्तु है जो न मिल सके। आप जो सम्राट् भरत के पास जाने की सलाह दे रहे हैं सो कहाँ तक ठीक है? भला कौन ऐसा बुद्धिमान है जो कल्पवृक्ष को छोड़कर सामान्य वृक्ष की सेवा करेगा?.....''

इस प्रकार नमि-विनमि के अभिमान भरे वचन को सुनकर और उनकी भगवान् में अगाध भक्ति देखकर धरणेंद्र मन में विचार करता है—

''ये महापुरुष भगवान से ही भोग चाहते हैं तो सचमुच में भगवान् की भक्ति भला क्या नहीं दे सकती है? इन्हें विजयार्ध पर्वत पर ले जाकर वहाँ का राजा बना देना चाहिए।''

पुनः वह अपने रूप को प्रगट कर कहता है —

''अहो! तुम दोनों तरुण होकर भी वृद्ध के समान हो और प्रभु के सच्चे भक्त हो। देखो, मेरा नाम धरणेंद्र है। मैं पाताललोक में रहने वाला हूँ और ऋषभदेव का किंकर हूँ। भगवान ने ही मुझे आज्ञा दी है कि 'ये दोनों कुमार बड़े ही भक्त हैं अतः इनकी इच्छानुसार इन्हें भोग सामग्री से युक्त करो।' इसलिए मैं यहाँ आया हूँ अतः आप प्रभु की आज्ञा लेकर मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें प्रभु के द्वारा बतलाए हुए इच्छित स्थान पर ले चलूँगा।''

इतना सुनते ही दोनों कुमार प्रसन्न हो जाते हैं और धरणेंद्र उन्हें आकाश मार्ग से अपने साथ विजयार्ध पर्वत पर ले जाकर वहाँ की शोभा दिखाते हुए कहता है —

''यह विजयार्ध पर्वत ५० योजन (५०×४०००=२००००० मील) चौड़ा है। २५ योजन (२५×४०००= १००००० मील) ऊँचा है तथा पूर्व-पश्चिम में लवण समुद्र को स्पर्श करता हुआ उतना ही लम्बा है।

यह इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र के ठीक बीच में स्थित है। इसमें तीन कटनी हैं। भूमितल से १० योजन ऊपर जाकर अन्दर १० योजन गहरी प्रथम कटनी है। यह कटनी दक्षिण और उत्तर दोनों तरफ हैं। पुनः १० योजन ऊपर जाकर १० योजन अन्दर ही दूसरी कटनी है। इसके ऊपर ५ योजन जाकर तृतीय कटनी है, यह कटनी भी १० योजन चौड़ी है। इसकी प्रथम कटनी पर तो विद्याधर नगरियाँ हैं। दूसरी कटनी पर आभियोग्य जाति के देवों के भवन बने हुए हैं और तीसरी कटनी पर नव कूट है। ये कूट ६-१/४ योजन चौड़े, इतने ही ऊँचे तथा घटते हुए अग्रभाग में कुछ अधिक ३ योजन चौड़े हैं। इनमें से आठ कूटों पर तो देवों के भवन बने हुए हैं और पूर्व दिशा के कूट पर अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। यह पर्वत चाँदी के समान है अतः इसे रजताचल भी कहते हैं।''

इतना कहते हुए यह धरणेंद्र उन्हें साथ लेकर इस पर्वत की पहली कटनी पर उतरता है और विद्याधरों की नगरियों को दिखाता हुआ कहता है —

''हे कुमार! सुनो, इस दक्षिण श्रेणी पर विद्याधरों के रहने के लिए अकृत्रिम-अनादि निधन ५० नगरियाँ हैं उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं-१. किन्नामित २. किन्नरगीत ३. नरगीत ४. बहुकेतुक ५. पुण्डरीक ६. सिंहध्वज ७. श्वेतकेतु ८. गरुड़ध्वज ९. श्रीप्रभ १०. श्रीधर ११. लोहार्गल १२. अरिंजयनगर १३. वज्रार्गल १४. वज्राढ्य १५. विमोच १६. पुरंजय १७. शकटमुखी १८. चतुर्मुखी १९. बहुमुखी २०. अरजस्का २१. विरजस्का २२. रथनूपुरचक्रवाल २३. मेखलाग्र २४. क्षेमपुरी २५. अपराजित २६. कामपुष्प २७. गगनचरी २८. विनयचरी २९. चक्रपुर ३०. संजयंती ३१. जयंती ३२. विजया ३३. वैजयंती

३४. क्षेमंकर ३५. चन्द्राभ ३६. सूर्याभ ३७. रतिकूट ३८. चित्रकूट ३९. महाकूट ४०. हेमकूट ४१. मेघकूट ४२. विचित्रकूट ४३. वैश्रवणकूट ४४. सूर्यपुर ४५. चंद्रपुर ४६. नित्योद्योतिनी ४७. विमुखी ४८. नित्यवाहिनी ४९. सुमुखी और ५०. पश्चिमा।

इसी प्रकार उत्तर श्रेणी में ६० नगरियाँ हैं जिनके नाम— १. अर्जुनी २. वारुणी ३. कैलाशवारुणी ४. विद्युत्प्रभ ५. किलकिल ६. चूड़ामणि ७. शशिप्रभा ८. वंशाल, ९. पुष्पचूड़, १०. हंसगर्भ ११. बलाहक १२. शिवंकर १३. श्रीहर्म्य १४. चमर १५. शिवमंदिर १६. वसुमत्क १७. वसुमती १८. सिद्धार्थक १९. शिवमंदिर २०. केतुमाला २१. सुरेंद्रकांत २२. गगननंदन २३. अशोका २४. विशोका २५. वीतशोका २६. अलका २७. तिलका २८. अम्बरतिलक २९. मंदिर ३०. कुमुद ३१. कुंद ३२. गगनवल्लभ ३३. द्युतिलक ३४. भूमितिलक ३५. गंधर्वपुर ३६. मुक्ताहार ३७. निमिष ३८. अग्निज्वाल ३९. महाज्वाल ४०. श्रीनिकेत ४१. जय ४२. श्रीनिवास ४३. मणिवज्र ४४. भद्राश्व ४५. भवनंजय ४६. गोक्षीर ४७. फेन ४८. अक्षोम्य ४९. गिरिशिखर ५०. धरणी ५१. धारण ५२. दुर्ग ५३. दुर्धर ५४. सुदर्शन ५५. महेन्द्रपुर ५६. विजयपुर ५७. सुगंधिनी ५८. वज्रपुर ५९. रत्नाकर ६०. चन्द्रपुर।

ये दक्षिण और उत्तर श्रेणी की ५०+६०=११० नगरियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक नगरी तीन-तीन परिखाओं से घिरी हुई है। ये परिखायें सुवर्णमय ईंटों से निर्मित और रत्नमयी पाषाणों से जड़ी हैं। इनमें ऊपर तक स्वच्छ जल भरा हुआ है जिनमें लाल, नीले, सफेद कमल फूल रहे हैं। उसके बाद एक कोट है जो ६ धनुष (६×४=२४ हाथ) ऊँचा और

१२ धनुष (१२×४=४८ हाथ) चौड़ा है। इस धूलिकोट के आगे एक परकोटा है यह १२ धनुष (१२×४=४८ हाथ) चौड़ा और २४ धनुष (२४×४=९६ हाथ) ऊँचा है। यह परकोटा भी सुवर्ण की ईंटों से व्याप्त और रत्नमय पाषाणों से युक्त है। इस परकोटे पर अट्टालिकाओं की पक्तियाँ हैं। इन अट्टालिकाओं के बीच-बीच में गोपुर द्वार हैं और उन पर रत्नों के तोरण लगे हुए हैं। गोपुर और अट्टालिकाओं के बीच में बुरज बने हुए हैं। इस प्रकार परिखा (खाई) कोट और परकोटे से घिरी हुई ये नगरियाँ १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी हैं। इन सभी नगरियों का मुख पूर्व दिशा की ओर है। इन नगरियों में से प्रत्येक नगरी में एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियाँ हैं और छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे हैं। इन नगरियों के राजभवन आदि का वर्णन बहुत सुन्दर है। इन नगरियों के प्रति १-१ करोड़ गाँवों की संख्या है तथा खेट, मडम्ब आदि की रचना जुदी-जुदी हैं।

हे राजकुमारों! अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि यहाँ के मनुष्य कैसे हैं? इन मनुष्यों को शत्रु राजाओं से तीव्र भय नहीं होता है, न यहाँ अति वर्षा होती है और न अनावृष्टि-अकाल ही पड़ता है। यहाँ पर दुर्भिक्ष ईति, भीति आदि के प्रकोप भी नहीं होते हैं। यहाँ पर चतुर्थकाल के आदि से अंत तक परिवर्तन होता है[१]। अभिप्राय यह है कि यहाँ भरत क्षेत्र के आर्य खंड में जब अवसर्पिणी का चतुर्थकाल प्रारंभ होता है उस समय मनुष्यों की ऊँचाई ५०० धनुष (२००० हाथ) और उत्कृष्ट आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती है। पुनः घटते-घटते चतुर्थ काल के अंत

१. प्रारंभे चापवर्गे च तुर्यकालस्य या स्थितिः। महाभारतवर्षेऽस्मिन् नात्रोत्कर्षापकर्षतः।।९।।

में शरीर की ऊँचाई ७ हाथ की और आयु सौ वर्ष की हो जाती है। ऐसे ही इन विजयार्ध पर्वत के विद्याधरों में चतुर्थकाल के आदि में उत्कृष्ट ऊंचाई ५०० धनुष और उत्कृष्ट आयु १ करोड़ वर्ष पूर्व तक रहती है। पुनः घटते-घटते जब यहाँ आर्यखंड में चतुर्थ काल का अंत आ जाता है तब वहाँ पर जघन्य ऊँचाई ७ हाथ और आयु १०० वर्ष मात्र ही रह जाती है। यहाँ पंचम और छठा काल होने तक तथा बाद में भी छठा, पंचम काल व्यतीत होने तक यही जघन्य व्यवस्था बनी रहती है। जब यहाँ आर्यखण्ड में उत्सर्पिणी के चतुर्थ काल में ऊँचाई ७ हाथ और आयु १०० वर्ष से बढ़ना शुरू होती है तब वहाँ भी बढ़ते-बढ़ते यहाँ के चतुर्थ काल के अंत में वहाँ की ऊँचाई और आयु बराबर उत्कृष्ट प्रमाण हो जाती है।

तभी तो यहाँ आर्यखंड के चक्रवर्तियों के विवाह संबंध वहाँ से होते हैं। चूँकि उस-उस समय इस आर्यखंड के समान ही वहाँ के विद्याधरों की आयु, ऊँचाई आदि रहती हैं।

भरत-ऐरावत क्षेत्रों के विजयार्धों की विद्याधर श्रेणियों में तथा यहीं के म्लेच्छखंडों में यह चतुर्थ काल की आदि से अन्त तक का परिवर्तन माना गया है। अन्यत्र विदेह क्षेत्र के आर्यखंडों में सदा एक सी व्यवस्था रहने से वहाँ के विजयार्धों की विद्याधर श्रेणियों और म्लेच्छखंडों में भी परिवर्तन नहीं है। वहाँ चतुर्थकाल के प्रारंभ जैसी व्यवस्था ही सदा काल रहती है।

यहाँ विद्याधर नगरियों में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। वर्षा, सर्दी, गर्मी आदि ऋतुओं का परिवर्तन रहता है तथा असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और कला इन छह कर्मों से आजीविका चलती है।

आर्यखंड की कर्मभूमि से यहाँ पर यह एक विशेषता अधिक है कि यहाँ मनुष्यों को महाविद्याएं उनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं। ये विद्यायें दो प्रकार की हैं-१. कुल या जाति पक्ष के आश्रित २. साधित। पहले प्रकार की विद्यायें माता अथवा पिता की कुल परंपरा से ही प्राप्त हो जाती हैं। दूसरी विद्यायें यत्नपूर्वक आराधना करने से प्राप्त होती हैं। विद्यासिद्ध करने वाले मनुष्य सिद्धायतन में या उसके समीप अथवा द्वीप, पर्वत या नदी के किनारे आदि किसी भी पवित्र स्थान में पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए विद्या अधिष्ठात् देवता की पूजा करते हैं। पुनः नित्य पूजा पूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओं की (खासमंत्रों की) आराधना करते हैं। इस तरह नित्यपूजा, तपश्चरण, जाप्य और होम आदि से वे प्रज्ञप्ति आदि महाविद्यायें सिद्ध हो जाती हैं। विद्याओं के बल से यह विद्याधर लोग आकाश मार्ग में विचरण करते हुए अनेक अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन, पूजन का पुण्य लाभ लिया करते हैं।"

इस प्रकार विस्तार से विजयार्ध पर्वत का वर्णन करके धरणेन्द्र इन दोनों के साथ दक्षिण श्रेणी की २२वीं नगरी 'रथनूपुर चक्रवाल' में प्रवेश करता है। वहाँ पर दोनों को सिंहासन पर बिठा कर सभी विद्याधर राजाओं को बुलाकर कहता है—

"हे विद्याधरों! सुनो, ये तुम्हारे स्वामी हैं। कर्मभूमि रूपी जगत् को उत्पन्न करने वाले जगद्गुरु श्रीमान् भगवान् ऋषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है इसलिए आप सब लोग प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा पालन करो। अब इनका राज्याभिषेक कर इनके मस्तक पर राज्यपट्ट बाँधो।"

इतना कहकर विद्याधरों के साथ धरणेन्द्र स्वयं बड़े आदर से सुवर्ण के बड़े-बड़े कलशों से इन दोनों का राज्याभिषेक कर देता है। पुनः इन दोनों को गांधारपदा और पन्नगपदा नाम की विद्याओं को देकर विद्याधरों से कहता है—

"ये नमि महाराज दक्षिण श्रेणी के स्वामी हैं और ये विनमि महाराज उत्तरश्रेणी के अधिपति हैं। हे विद्याधरों! अब आप इनके अनुशासन में रहते हुए अपने अभ्युदयों का अनुभव करो।" इतना कहकर धरणेन्द्र अपने स्थान पर चला जाता है। तब पुनः विद्याधर राजगण अनेक भोग सामग्री, रत्नों के उपहार आदि भेंट करते हुए इन दोनों का बहुत ही सम्मान करते हैं। आचार्य कहते हैं—

"देखो, कहाँ इन नमि, विनमि का जन्म यहाँ भूमि गोचरियों में और कहाँ विद्याधर श्रेणियों का आधिपत्य? अहो! भगवान् की भक्ति की कितनी महिमा है कि जो अज्ञानरूप से की गई थी, कल्पवृक्ष के समान उत्तम फल देने वाली हो गई।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव की उपासना कभी भी निष्फल नहीं जा सकती है।

(१८)

जगद्गुरु तीर्थंकर ऋषभदेव जिनमुद्रा से योग धारण कर आज छह मास पूर्ण कर चुके हैं। अब संयमरूपी यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति चाहने वाले मुनियों को निर्दोष आहार विधि बतलाने के उद्देश्य से स्वयं आहार हेतु विहार कर रहे हैं। महायोगिराज ऋषभदेव जिस-जिस ओर कदम रखते हैं वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर बड़े आदर के साथ उन्हें प्रणाम करते हैं। कितने ही लोग कहते हैं—

"हे देव! प्रसन्न होइये और कहिये क्या काम हैं?"

कितने ही लोग भगवान् के पीछे-पीछे चलने लगते हैं। अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर महायोगी के सामने रखते हैं और कहते हैं—

" हे देव! प्रसन्न होइये और हमारी इस पूजा को स्वीकृत कीजिए।" कितने ही लोग नाना प्रकार के पदार्थ और अनेक सवारियों को लेकर प्रभु के सन्मुख आते हैं और कहते हैं—

"हे नाथ! इन्हें ग्रहण कीजिए।"

कितने ही लोग वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, आदि सामग्री लेकर आते हैं और निवेदन करते हैं—

"प्रभो! इन्हें धारण कीजिए।"

कितने ही अज्ञानी लोग सुन्दर और यौवन सम्पन्न कन्याओं को लाकर तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने खड़ी कर देते हैं। कितने ही लोग अच्छे-अच्छे आसन और भोजन की सामग्री लाकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं—

"प्रभो! इस आसन पर विराजिए और भोजन ग्रहण कर हमें कृतार्थ कीजिए।"

तीर्थंकर देव अपनी चर्या में विघ्न जानकर आगे बढ़ जाते हैं। लोग निराश हो खड़े-खड़े देखते रह जाते हैं। भगवान् के अभिप्राय को जानने में असमर्थ हुए लोग "अब क्या करना चाहिए?" ऐसा सोचते हुए आँखों से आँसू डालते हुए चिन्तासागर में डूब जाते हैं। कितने ही लोग अपने पुत्र, स्त्री आदि परिवार को लाकर गुरुदेव के चरणों में पड़ जाते हैं। योगिराज कुछ क्षण खड़े रह जाते हैं। पुनः लोगों के हटते ही आगे विहार कर जाते हैं। इस प्रकार आश्चर्यकारी गूढ़चर्या से उत्कृष्ट चर्या

करते हुए तीर्थंकर ऋषभदेव के छह महीने और व्यतीत हो जाते हैं। इस तरह एक वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद ये महामुनि कुरुजांगल देश के आभूषण ऐसे हस्तिनापुर नगर के समीप पहुँचते हैं। उस समय उस नगर के शासक राजा सोमप्रभ और भाई श्रेयांसकुमार थे। तभी रात्रि के पिछले भाग में राजकुमार श्रेयांस को उत्तम-उत्तम सात स्वप्न दिखाई देते हैं। प्रातः उठकर नित्य क्रिया से निवृत्त हो श्रेयांसकुमार राजसभा में अपने अग्रज सोमप्रभ के सन्मुख विनय पूर्वक उन स्वप्नों को कहते हैं—

"हे अग्रज! आज रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने उत्तम सात स्वप्न देखे हैं।" राजा सोमप्रभ उत्कण्ठा पूर्वक पूछते हैं—

"हे बंधुवर! वे क्या-क्या हैं?"

श्रेयांसकुमार कहते हैं—

"प्रथम स्वप्न में मैंने अतिशय ऊँचा सुवर्णमय सुमेरुपर्वत देखा है। दूसरे स्वप्न में जिसकी शाखाओं के अग्रभाग पर आभूषण लटक रहे हैं। ऐसा कल्पवृक्ष देखा है। तीसरे स्वप्न में सिंह, चौथे स्वप्न में बैल, पाँचवे स्वप्न में सूर्य और चन्द्रमा, छठे स्वप्न में लहरों और रत्नों से सुशोभित समुद्र तथा सातवें स्वप्न में अष्ट मंगल द्रव्यों को हाथों में धारण किए व्यंतर देवों को देखा है।"

इतना सुनकर राजा सोमप्रभ राजपुरोहित की ओर देखते हैं। तभी संकेत पाकर पुरोहित महाराज निवेदन करते हैं—

"हे राजन् ! हे महानुभाव! स्वप्न में सुमेरुपर्वत के देखने से यह प्रगट होता है कि जो सुमेरु के समान अतिशय उन्नत है और सुमेरु पर्वत पर ही जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर पर आयेगा और ये अन्य छह स्वप्न भी उन्हीं के गुणों की उन्नति को

सूचित करते हैं। आज उन महापुरुष के योग्य की गई विनय से हम लोगों के महान पुण्य का उदय होवेगा।' हे कुमार आज हम लोग जगत् में बड़ी भारी प्रशंसा प्रसिद्धि और लाभ सम्पत्ति को प्राप्त करेंगे।"

इतना सुनकर राजा सोमप्रभ और श्रेयांसकुमार हर्ष से रोमांचित हो जाते हैं। पुनः दोनों भाई स्वप्न की और तीर्थंकर परमदेव की चर्चा करते हुए बैठे ही थे कि इतने में ही योगिराज तीर्थंकर ऋषभदेव हस्तिनापुर में प्रवेश करते हैं। उस समय महामुनि के दर्शनों की इच्छा से घर-घर से निकलकर आकर एकत्रित हुए जन समुदाय का बहुत भारी कोलाहल शुरू हो जाता है। कोई कहता है—

"आदिकर्ता तीर्थंकर ऋषभदेव हम लोगों का पालन करने के लिए यहाँ आए हैं, चलो जल्दी चलकर उनका दर्शन करें और भक्ति पूर्वक उनके चरणों की पूजा करें।"

कितने ही लोग कह रहे हैं—

"सनातन भगवान् केवल हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए ही वन प्रदेश से वापस लौटे हैं।"

कोई कहता है—

"देखो-देखो, जिनका शरीर सुवर्ण के समान चमक रहा है, और जो सुमेरुपर्वत के समान अतिशय ऊँचे हैं ऐसे तीर्थंकर ऋषभदेव इधर ही चले आ रहे हैं।"

कोई कहता है—

"संसार का कोई एक पितामह है ऐसा हम लोग केवल कानों से सुनते थे, अहो! आज हम लोग ऐसे सनातन पितामह का प्रत्यक्ष आँखों से दर्शन कर रहे हैं। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं?"

कोई कहता है—

"अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि ये तीन लोक के स्वामी भगवान् ऋषभदेव समस्त राज्य वैभव का त्याग कर पूर्ण दिगम्बर होकर आज अकेले ही इस पृथ्वी तल पर विचरण कर रहे हैं।"

कोई स्त्री अपनी दासी से कहती है—

"हे माँ! ले तू बालक को दूध पिला दे, मैं भगवान् के चरणों का दर्शन करने जा रही हूँ।"

दूसरी कोई महिला कह रही है—

"हे सखि! स्नान और श्रृंगार की सामग्री दूर हटा, जल्दी चल, देख भगवान तीर्थंकर देव यहाँ पधार चुके हैं।"

उसी समय-

"मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ" इसी होड़ में धक्का-मुक्की करते हुए विशाल जन समुदाय का बहुत बड़ा कोलाहल सुनाई पड़ता है। तीर्थंकर परमदेव अपनी गूढ़चर्या से राजमन्दिर की ओर आ रहे हैं। देखकर सिद्धार्थ नामक द्वारपाल शीघ्र ही आकर राजा सोमप्रभ और श्रेयांस के सन्मुख हाथ जोड़कर निवेदन करता है—

"हे राजाधिराज! भगवान् ऋषभदेव इधर ही आ रहे हैं।" सुनते ही महान हर्ष से पुलकित हुए दोनों भाई अपने अन्तःपुर सेनापति आदि के साथ उठ खड़े होते हैं और राजमहल के आँगन तक बाहर आ जाते हैं। दूर से आते हुए प्रभु को देखकर दोनों हाथ जोड़कर नम्रीभूत होते हुए भक्तिपूर्वक और आगे बढ़कर महायोगिराज के चरणों में नमस्कार करते हैं। पुनः भगवान् की तीन प्रदक्षिणा देते हैं और क्षण के लिए सोचते हैं कि-

"अब हमारा क्या कर्तव्य है?"

कि तत्क्षण ही राजकुमार श्रेयांस को जाति स्मरण हो जाता है। उन्हें अपने इस भव से आठवें भव पूर्व में राजा वज्रजंघ की रानी श्रीमती की पर्याय में साथ-साथ मुनियों को दिए गए आहार दान की सारी विधि स्मरण में आ जाती है। "मुनियों को आहार देने का प्रातःकाल का यह उत्तम समय है। आहार देने के पूर्व नवधा भक्ति करनी होती है।" ऐसा स्मरण कर राजा श्रेयांस योगिराज ऋषभदेव की नवधा भक्ति करते हैं—

प्रभु को पड़गाहन कर उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करते हैं, प्रभु के चरणों का प्रक्षालन कर अपने मस्तक पर गंधोदक लगा कर अपना जीवन धन्य समझते हैं। पुनः अष्टद्रव्य से पूजा कर प्रभु को नमस्कार करते हैं। "हे भगवन्! मेरा मन, वचन, काय शुद्धि और यह आहार भी शुद्ध है।"

ऐसा निवेदन कर प्रभु से आहार ग्रहण हेतु प्रार्थना करते हैं। योगिराज ऋषभदेव खड़े होकर अपने दोनों करपुटों को पात्र बना लेते हैं। तब राजा सोमप्रभ रानी लक्ष्मीमती और राजा श्रेयांस कुमार बड़ी भक्ति से प्रभु के अंजलिपुट में इक्षुरस का आहार देते हैं। उसी समय आकाश से देवों द्वारा छोड़ी हुई रत्नों की वर्षा होने लगती है। नाना वर्णमयी सुगंधित पुष्प बरसने लगते हैं। नाना प्रकार के उत्तम बाजे बजने लगते हैं। मंद सुगंध हवा चलने लगती हैं और देवगण 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य दाता' ऐसे शब्दों से आकाश को मुखरित कर देते हैं। आहार के समय देवों द्वारा किये गये ये पाँच अतिशय 'पंचाश्चर्य' कहलाते हैं। राजा श्रेयांस प्रभु को आहार देने में मग्न हैं। देवगण हर्ष से विभोर हो पंचाश्चर्य वृष्टि कर रहे हैं। राज-परिवार, मंत्री आदि बहुत से भव्यजीव अभूतपूर्व दानविधि को देखकर भाव विभोर हो रहे हैं। तभी सातिशय पुण्य का संचय कर रहे हैं।

योगिराज तीर्थंकर ऋषभदेव आहार ग्रहण करने के अनंतर पुनः वन की ओर चले जा रहे हैं। दोनों भाई भी बहुत कुछ दूर तक भगवान् के पीछे-पीछे जाते हैं। पुनः अपने पवित्र हृदय में जगद्गुरु की मूर्ति स्थापित किये हुए उन्हीं के गुणों की कथा करते हुए वापिस अपने महल में आ जाते हैं।

सभी परिजन और पुरजन कुतूहल से भरे हुए वहाँ आकर राजा श्रेयांस को चारों तरफ से घेर लेते हैं और बहुत प्रकार से उनकी प्रशंसा करते हुए भी अपने आप में तृप्त नहीं हो रहे हैं। आँगन में और बड़ी-बड़ी गलियों में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए, बड़े-बड़े रत्नों के समूह को एकत्रित करने वाले तथा साधारण जन आनंद के अतिरेक से नाच रहे हैं। उस दिन हस्तिनापुर में ही नहीं सारे संसार में राजा श्रेयांस के द्वारा दिये गये दान की प्रशंसा हो रही है। उसी समय देवगण भी आश्चर्य से चकित होते हुए हस्तिनापुर आकर राजा श्रेयांस की आदर भाव से पूजा करते हैं।

उस आहार दान के दिन वैशाख शुक्ला तृतीया थी। उस दिन राजा के यहाँ इक्षुरस आदि भोजन भी अक्षय हो गया और रत्नों की वर्षा से भी अक्षय भंडार भर गया था। इसलिए सभी लोग उस दिन को "अक्षय तृतीया" कहने लगे।

सम्राट् भरत चक्रवर्ती भी अयोध्या से हस्तिनापुर आ जाते हैं और बड़े आदर से राजा श्रेयांस की प्रशंसा करते हुए उनसे प्रश्न करते हैं—

"हे कुरुवंश शिरोमणे! कहो तो सही तुमने पूज्य पिता तीर्थंकर ऋषभदेव का यह अभिप्राय कैसे जान लिया? इस संसार में पहले कभी देखने में नहीं आई ऐसी इस दान की विधि को भला तुमने कैसे जान

लिया है? हे राजकुमार श्रेयांस! आज तुम हमारे लिए भगवान् ऋषभदेव के समान ही पूज्य हो गये हो। हे दानपते! तुम दानतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हो और महापुण्यवान् हो, इसलिए मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह मुझसें कहो।"

इतना सुनकर प्रसन्नमना श्रेयांस कुमार कहते हैं—

"हे सम्राट्! मैंने जैसे ही महायोगिराज ऋषभदेव का दर्शन किया वैसे ही मुझे इस भव से आठवें भव पूर्व का यह दृश्य स्मरण हो आया कि जब मैं रानी श्रीमती था और ये प्रभु ऋषभदेव मेरे पति राजा वज्रजंघ थे, हम दोनों ने बहुत ही भक्ति से "अपने ही युगलपुत्र जो चारण ऋद्धिधारी महामुनि थे उनको आहार दान दिया था। उस समय जैसे नवधाभक्ति आदि विधि की थी वह सब मुझे स्मरण हो आई। उसी क्षण मैंने भगवान् को पड़गाहन कर नवधाभक्ति करके विधिवत् इक्षुरस का आहार दिया है।"[१]

इतना सुनकर भरत सम्राट् बहुत ही प्रसन्न होते हैं। पुनः राजकुमार श्रेयांस से कहते हैं-श्रेयांस कुमार! आप अपने पूर्वभवों का किंचित् विस्तार से वर्णन कीजिए, क्योंकि सभी लोग सुनने के लिए उत्सुक हैं।

---

१. तब से लेकर आज तक एक कोड़ा-कोड़ी सागर से भी अधिक काल व्यतीत हो चुका है और आज तक भी सभी लोग इस वैशाख सुदी तीज को "अक्षयतृतीया" के नाम से जानते हैं तथा भाक्तिक लोग आहार दान की महिमा को भी बखानते हैं। इस पवित्र दिवस में बिना मुहूर्त पूछे ही हजारों विवाह संपन्न होते हैं। अगणित, गृह-प्रवेश आदि मांगालिक कार्य संपन्न किये जाते हैं और इसे सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त माना जाता है।

(१९)

भरत सम्राट् की जिज्ञासा देखकर श्रेयांसकुमार अपने जाति-स्मरण से जाने हुए पूर्व भवों को सुनाने लगे। वे बोले-"हे भरत सम्राट्! सुनो मैं आपको विस्तार से सुनाता हूँ।

इसी जम्बूद्वीप में सुमेरु के पूर्व के विदेह को पूर्व विदेह कहते हैं। उसमें सीता नदी के उत्तर तट पर चार वक्षार और तीन विभंगा नदी के निमित्त से आठ देश विभाग हो गये। वे एक-एक देश यहाँ के इस भरत क्षेत्र के विस्तार से कई गुने बड़े हैं। उनके नाम हैं कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला और पुष्कलावती। प्रत्येक क्षेत्र का पूर्वा पर विस्तार २२१२-७/८ योजन है तथा दक्षिण-उत्तर लम्बाई १६५९२-२/१९ योजन है। ये प्रत्येक विदेह देश समान व्यवस्था वाले हैं।

इनमें जो आठवाँ पुष्कलावती देश हैं वह वन, ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटब, पत्तन, द्रोणमुख, दुर्ग-अटवी, अन्तरद्वीप और कुक्षिवासों से सहित तथा रत्नाकरों से अलंकृत हैं। इस देश में छयानवें करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौंतीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब, अड़तालीस हजार पत्तन, निन्यानवे हजार द्रोणमुख, चौदह हजार संवाहन, अट्ठाईस हजार दुर्गाटवी, छप्पन अन्तरद्वीप, सात सौ कुक्षिनिवास और छब्बीस हजार रत्नाकर होते हैं।[१]

यहाँ पुष्कलावती देश के बीचों-बीच ५० योजन विस्तृत, २२१२-८/७ योजन लम्बा विजयार्ध पर्वत है। इसमें तीन कटनी हैं। प्रथम कटनी पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं। दूसरी कटनी पर आभियोग्य जाति के

१. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४।

देवों के भवन हैं और तीसरी कटनी पर ९ कूट हैं। इसमें एक कूट पर जिनमंदिर शेष ८ पर देवों के भवन हैं।

नील पर्वत की तलहटी में दो कुण्ड बने हुए हैं, जिनसे गंगा सिन्धु नदी निकलकर विजयार्ध की गुफा में प्रवेश कर इस क्षेत्र में बहती हुई सीता नदी में प्रवेश कर जाती हैं। इस निमित्त से यहाँ भी भरत क्षेत्र के समान छह खण्ड हो जाते हैं। जिसमें से नदी के तरफ का मध्य का आर्य खण्ड है और शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं।

इस आर्य खण्ड के ठीक बीच में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। इसके बाहर प्रत्येक दिशा में ३६० वनखण्ड हैं जिनमें सदा फल-फूलों से शोभा बनी रहती है।

यह नगरी नव योजन विस्तृत और बारह योजन लम्बी है। इसके चारों तरफ सुवर्ण प्राकार-परकोटा है। पुनः परकोटे को घेरकर विस्तृत खातिका-खाई है।

यह चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की राजधानी रहती है। इस नगरी में एक हजार गोपुरद्वार, पाँच सौ क्षूद्र द्वार बारह हजार वीथियाँ और एक हजार चतुष्पथ हैं। वहाँ सुवर्ण, प्रवाल, स्फटिक, मरकत आदि से निर्मित सुन्दर-सुन्दर महल बने हुए हैं।

इस आर्यखण्ड में मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष है और उत्कृष्ट आयु कोटि पूर्व वर्ष की है। यहाँ इन्द्र धरणेन्द्र और चक्रवर्तियों से भी नमस्कृत तीर्थंकर भगवान् होते रहते हैं।

गणधर देव, अनगार मुनि, केवली मुनि, चारणऋद्धिधारी मुनि और श्रुतकेवली भी विहार करते रहते हैं। मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका का चतुर्विध संघ जहाँ सर्वदा विचरण करता ही रहता है।

छह खण्ड पर अनुशासन करने वाले चक्रवर्ती त्रिखण्डाधिपति नारायण प्रतिनारायण और बलभद्र भी जन्म लेते हैं।

इसी पुष्कलावती विदेह क्षेत्र के आर्यखण्ड में एक उत्पलखेटक नाम का नगर है। उस नगरी के राजा वज्रबाहु की रानी वसुन्धरा ने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'वज्रजंघ' रखा गया और मैं पुण्डरीकिणी राजधानी के चक्रवर्ती वज्रदंत की कन्या श्रीमती थी सो मेरा विवाह इन वज्रजंघ के साथ सम्पन्न हुआ। हम दोनों का बहुत सा समय सुखपूर्वक निकल जाने के बाद एक समय पुण्डरीकिणी नगरी से विद्याधर एक पिटारे में बंद पत्र लेकर आए। जिसे पढ़कर मेरे पति ने समाचार बताया कि-"चक्रवर्ती वज्रदंत ने तीर्थंकर यशोधर भगवान के शिष्य गुणधर मुनिराज के समीप अपने पुत्र, स्त्रियों तथा अनेक राजाओं के साथ दैगंबरी दीक्षा धारण कर ली है। अर्थात् महाराज वज्रदंत के साथ साठ हजार रानियों ने, बीस हजार राजाओं ने और एक हजार पुत्रों ने दीक्षा ले ली है। चक्रवर्ती ने अपने सार्वभौम राज्य का भार पुत्रों के दीक्षा के भाव देखकर एक छोटे से पौत्र पुण्डरीक को दे दिया है। यह अभी बालक है सो आप आकर इस राज्य की व्यवस्था सुचारू संभालें।"

सो मैं श्रीमती पर्याय में अपनी माता लक्ष्मीमती और भावज अनुन्धरी जो कि मेरे पति वज्रजंघ की बहन थी और मेरे भाई अर्थात् चक्रवर्ती के पुत्र अमिततेज को ब्याही थी। उसके पुत्र को प्राप्त कर राजा वज्रजंघ के साथ पुण्डरीकिणी नगरी की ओर जा रहा था। मार्ग में एक वन में डेरा डाला गया था। वहाँ अकस्मात् आकाश मार्ग से दो चारणमुनि को आते देख राजा ने मेरे साथ में उनका पड़गाहन कर भक्ति से उन्हें आहार दिया। उस आहार के समय मेरे स्वामी के मंत्री, पुरोहित,

सेनापति, और सेठ ये चारों ही वहीं सामने खड़े होकर बड़ी भक्ति से आहार देख रहे थे और नकुल, सिंह, वानर तथा सूकर ये चारों पशु भी बहुत ही प्रेम से आहार देख रहे थे। आहार के समय ही देवों ने आकाश से रत्न बरसाना शुरु कर दिया। रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, गन्धोदक वृष्टि, दुंदुभिबाजों की गंभीर ध्वनि और जय जयकार इस प्रकार से देवों द्वारा पंचाश्चर्य किए गए थे।[१]

आहारपूर्ण होने के बाद मुनिराज वहीं शिला पर विराज गए। राजा वज्रजंघ ने उनके चरण निकट में बैठकर विनय से बड़े मुनि दमधर से अपने, श्रीमती (मेरे) मंत्री आदि चारों के तथा नकुल आदि चारों पशुओं के भी पूर्व भव पूछे। मुनिराज ने अवधिज्ञान के द्वारा सबके पूर्व भव सुना दिए। अनन्तर उन्होंने भविष्यत् के बारे में पूछा तब मुनिराज ने कहा-

"राजन! इस भव से आठवें भव में तुम भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव होवोगे। रानी श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस होकर दानतीर्थ की प्रवृत्ति करेगा। ये मंत्री आदि चारों जीव तुम्हारे भरत, बाहुबली, वृषभसेन आदि पुत्र होवेंगे और ये नकुल आदि चारों पशु भी, इन्हें इस समय जातिस्मरण हो गया है अतः ये पाप का पश्चात्ताप कर रहे हैं तथा इस आहारदान की जो इन्होंने अनुमोदना की है इसके प्रभाव से ये भोगभूमि में मनुष्य पर्याय को प्राप्त करेंगे और तीर्थंकर अवस्था में तुम्हारे ही पुत्र होंगे। ये सब उसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

इस भविष्य को सुनकर मुझे भी बहुत ही खुशी हुई। उस समय कंचुकी ने हमारे पति श्री वज्रजंघ और मुझे दोनों को बताया कि —

१. आदिपुराण, पृष्ठ १८७।

"ये आपके ही अंतिम युगलिया पुत्र हैं जिन्होंने तपश्चरण के बल से चारण ऋद्धि प्राप्त कर ली है।"

यह परिचय जानकर तो मेरा मातृत्व हृदय भर आया और प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अनन्तर मुनिराज तो आकाशमार्ग से विहार कर गये। राजा वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरी पहुँचे। मेरी माता और अपनी बहन अनुन्धरी से मिले। उन सबको सान्त्वना दी। राज्य की व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया और कुछ काल बाद मुझे साथ में लेकर अपने नगर में आ गये।

एक बार नौकरों ने सायंकाल में मेरे शयनागार में धूप खेने के बाद खिड़कियाँ नहीं खोली भूल गये, जिससे अन्दर घुटन हो गई। जिस कारण राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती (मैं) वहाँ रात्रि में साते के सोते ही रह गये। अर्थात् दोनों के प्राण निकल गये।

मुनियों को आहार देने के पुण्य प्रभाव से हम दोनों उत्तरकुरु भोगभूमि में दम्पती हो गये।

इसी जम्बूद्वीप में सुमेरु की उत्तर दिशा में उत्तरकुरु नाम की भोगभूमि हैं। वहाँ पर मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग इन दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। यह पृथ्वीकायिक हैं और भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्यों को सर्वभोग सामग्री प्रदान करते रहते हैं।

मद्यांग जाति के कल्पवृक्ष अमृत के समान अनेक प्रकार के रस देते हैं। कामोद्दीपन करने वाले होने से इन्हें उपचार से मद्य कह देते हैं। वास्तव में ये वृक्षों के एक प्रकार के रस हैं। मद्यपायी लोग जिस मदिरा का पान करते हैं वह नशा करने वाला है और अन्तःकरण को मोहित

करने वाला है अतः वह आर्य पुरुषों के लिए सर्वथा त्याज्य है[1]।

वादित्रांग वृक्ष दुन्दुभि आदि बाजे देते हैं। भूषणांग मुकुट हार आदि भूषण देते हैं। मालांग वृक्ष माला आदि अनेक सुगन्धित पुष्प देते हैं। दीपांग वृक्ष मणिमय दीपकों से शोभायमान रहते हैं। ज्योतिरंग वृक्ष सदा प्रकाश फैलाते रहते हैं। गृहांग वृक्ष ऊँचे-ऊँचे महल आदि देते हैं। भोजनांग वृक्ष अमृतसदृश अशन, पान आदि भोजन देते हैं। भाजनांग थाली, कटोरा आदि देते हैं। वस्त्रांग वृक्ष अनेक प्रकार के वस्त्र प्रदान करते हैं।

ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवों के द्वारा ही अधिष्ठित हैं। केवल पृथ्वी के आकार से परिणत हुए पृथ्वी के सार ही हैं। यह सभी वृक्ष अनादि निधन हैं और स्वभाव से ही फल देने वाले हैं। इन वृक्षों का ऐसा ही स्वभाव है इसलिए 'ये वृक्ष वस्त्र, भोजन, बर्तन आदि कैसे देंगे?' ऐसा कुतर्क कर इनके स्वभाव में दूषण लगाना उचित नहीं है। जिस प्रकार आजकल के अन्य वृक्ष अपने-अपने फलने का समय आने पर अनेक प्रकार के फल देकर प्राणियों का उपकार करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्यों के दान के फल से अनेक प्रकार के फल फलते हुए वहाँ के प्राणियों का उपकार करते हैं।

वहाँ पर न गर्मी है, न सर्दी है, न पानी बरसता है, न तुषार पड़ता है, न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न प्राणियों को भय उत्पन्न करने वाले

---

१. कामोद्दीपन साधर्म्यात्, मद्यमित्युपचर्यते ।
तारवो रसभदोऽयं यः सेव्यो भोगभूमिजैः।।३८।।
मदस्य करणं मद्यं पान शौद्रैर्यदादृतम्।
तद्वर्जनीयमार्याणामन्तःकरणमोहदम् ।।३९।।
(आदिपुराण, पृ. १९३)

साँप, बिच्छू, खटमल आदि दुष्ट जन्तु ही हैं। वहाँ न रात-दिन का विभाग है और न ऋतुओं का परिवर्तन ही हैं। वहाँ के दम्पती युगल सन्तान को जन्म देते ही स्वयं स्वर्गस्थ हो जाते हैं। माता को छींक और पुरुष को जम्भाई आते ही मर जाते हैं और उनके शरीर क्षणमात्र में कपूर के समान उड़कर विलीन हो जाते हैं। इसलिए वहाँ पर पुत्र-पुत्री और भाई-बहन का व्यवहार नहीं रहता है। वे युगलिया सात दिन तक शय्या पर उत्तान लेटे हुए अंगूठा चूसते रहते हैं। पुनः सात दिन तक पृथ्वी पर रेंगने-सरकने लगते हैं। तीसरे सप्ताह में खड़े होकर अस्पष्ट किन्तु मीठी भाषा बोलते हुए गिरते-पड़ते खेलते हुए जमीन पर चलने लगते हैं। पाँचवे सप्ताह में अनेक कलाओं और गुणों से सहित हो जाते हैं। छठे सप्ताह में युवावस्था को प्राप्त हो जाते हैं और सातवें सप्ताह में वस्त्राभूषण धारण कर पति-पत्नी रूप से भोग-भोगने वाले हो जाते हैं।

इन आर्य-आर्या युगलिया दम्पती की शरीर की ऊँचाई ६००० धनुष (तीन कोष) प्रमाण होती है और इनकी आयु तीन पल्य की होती है। दोनों का वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इन दम्पत्तियों को न बुढ़ापा है, न रोग है, न विरह है, न शोक है, न अनिष्ट का संयोग है, न चिन्ता है, न दीनता है, न नींद है, न आलस्य है, न नेत्रों के पलक झपकते हैं, न शरीर में मल-मूत्रादि हैं,न लार बहती हैं, न पसीना है,न उन्माद है, न कामज्वर है, न भोगों का विच्छेद है, न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, न अरुचि है, न क्रोध है, न कृपणता है, न अनाचार है, न वहाँ कोई बलवान् है और न निर्बल ही है और न असमय में मृत्यु ही है। वहाँ के दम्पत्ती चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी हैं।

इस प्रकार से हम दोनों वहाँ आर्य-आर्या होकर दश प्रकार के

कल्पवृक्षों से अनुपम सुखों का उपभोग कर रहे थे कि एक समय अकस्मात् आकाश मार्ग से जाते हुए सूर्य प्रभदेव का विमान देखकर हम दोनों को जातिस्मरण हो गया। स्वर्ग में ललितांगदेव और स्वयंप्रभा देवी के सुख भोगों का तथा मनुष्य पर्याय में राजा बज्रगंध और रानी श्रीमती के भवों का भी स्मरण हो आया। इसी बीच आकाश मार्ग से चारण ऋद्धिधारी दो मुनिराज वहाँ उतरे, उन्हें देखते ही हम दोनों उठकर विनय से नमस्कार किया। उन्होंने हम दोनों को आशीर्वाद दिया। उनमें से बड़े मुनिराज ने हमारे पूर्वभव बतलाए पुनः उपदेश देते हुए बोले —

"हे आर्य! आप पूर्वभव में हमारे परम मित्र थे इसलिए हम आपको समझाने के लिए यहाँ आए हैं। हे नरश्रेष्ठ! तुम सम्यग्दर्शन से रहित केवल पात्रदान की विशेषता से यहाँ उत्पन्न हुए हो। महाबल विद्याधर की पर्याय में तुमने हमसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था, उस समय भी तुम सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त कर सके थे। सो अब आप दोनों दम्पती सम्यग्दर्शन ग्रहण करो। हे आर्ये! सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पुनः तुम्हें स्त्रीपर्याय नहीं मिलेगी।'

इत्यादि रूप से महामुनि के उपदेश से हम दोनों ने वहाँ सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया था। अन्त में मरणकर ऐशान स्वर्ग में राजा वज्रजंघ का जीव श्रीधरदेव हो गया था। मैं तथा नकुल आदि चारों पशु के जीव जो वहीं भोगभूमि में आर्य हुए थे वे भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वहीं ऐशान स्वर्ग में देवपद को प्राप्त कर लिए थे।

पुनः राजा वज्रजंघ ने सुविधिराजा, अच्युत स्वर्ग का इन्द्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती, सर्वार्थसिद्धि का अहमिंद्र पद प्राप्त किया। पुनः ये ऋषभदेव तीर्थंकर हुए हैं। मेरा जीव स्वर्ग से च्युत हो राजा सुविधि का पुत्र केशव

हुआ। पुनः सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ। पुनः धनदेव नाम से चक्रवर्ती वज्रनाभि का गृहपति रत्न हुआ। अनन्तर मैंने दीक्षा लेकर देवपद प्राप्त कर वहाँ से च्युत हो यहाँ हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का भाई श्रेयासंकुमार हुआ हूँ।

हे राजाधिराज! इस प्रकार से मैंने आपके सामने सब बता दिया है " मुझे भगवन् को देखते ही जो पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ था कि जो मैंने राजा वज्रजंघ के साथ रानी श्रीमती की पर्याय में चारणयुगल मुनियों को आहार दिया था उस समय की आहार देने के समय की नवधा भक्ति भी मुझे स्मरण हो आई। कैसे पड़गाहन करना? कैसे आहार देना? आदि सब स्मरण हो आने से मैंने प्रभु ऋषभदेव को आहारदान दिया है वास्तव में आहारदान का कितना बड़ा फल है? सो तो देवों के द्वारा रत्नों की वर्षा आदि पंचाश्चर्य करने से ही प्रगट दिख रहा है। इसका अब मैं और विशेष क्या वर्णन करूँ।?

हे राजर्षि भरत! हम सभी को उत्तम दान देना चाहिए। अब भगवान् ऋषभदेव के तीर्थ में मुनि, आर्यिका आदि उत्तम पात्र सर्वत्र फैल जायेंगे। उन्हें आहार देने से ही वे रत्नत्रय की साधना करके मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए मोक्षमार्ग को चलाने के लिए यह आहारदान सर्वोत्कृष्ट दान है, इसमें कोई संदेह नहीं है।"

इतना सब सुनकर चक्रवर्ती भरत, राजा सोमप्रभ आदि सभी लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। भरत महाराज ने राजा सोमप्रभ और श्रेयांस का बहुत ही सम्मान किया। उन पर बहुत ही स्नेह प्रगट किया। पुनः ऋषभदेव के गुणों का स्मरण करते हुए अपनी अयोध्या नगरी में वापस आ गये।

(२०)

अध्यात्म तत्त्व को जानने वाले वे भगवान् ऋषभदेव कभी तो पर्वत के ऊपर लतागृहों में, कभी पर्वत की गुफाओं में और कभी पर्वत के शिखरों पर ध्यान लगाते थे। वे भगवान् अध्यात्म की शुद्धि के लिए कभी तो पहाड़ों के ऊपर पड़ी हुई शिला तलों पर आरूढ़ होते थे। कभी उपद्रव रहित शून्य एकान्त वन में बैठ कर आत्मा के स्वरूप पर चिंतवन करते थे, कभी नदी के किनारे कभी सरोवरों के तट पर और कभी श्मसान भूमि में विराजमान होकर निश्चल एकाग्र समाधि लगा लेते थे। ऐसे वे योगिराज एक हजार वर्ष तक तपश्चरण करते हुए अनेक देशों में विहार करते रहे। पुनः किसी एक दिन पुरिमताल नगर के समीप एक शकट नाम के उद्यान में पहुँचे। वह स्थान उस नगर से न अधिक समीप था और न अधिक दूर ही था। शुद्ध बुद्धि के धारक महायोगिराज जिनराज ध्यान की सिद्धि के लिए वटवृक्ष के नीचे एक पवित्र शिला पर पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन से स्थित हो गए।

वे भगवान् अपने अंतःकरण की विशुद्धिरूपी सेना को तैयार कर मोहरूपी शत्रु की सेना को जीतने लिए कटिबद्ध हो गए। उन्होंने इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम को शिर की रक्षा करने वाला टोप और शरीर की रक्षा करने वाला कवच बनाया। विशुद्धिरूपी सेना की आपत्ति से रक्षा करने के लिए ज्ञानरूपी मंत्रियों को नियुक्त किया और विशुद्ध परिणाम को सेनापति का भार सौंपा और अनेक गुणों को सैनिक बनाया। इस प्रकार जगद्गुरु वृषभदेव ने ज्यें ही कर्मों के जीतने का उद्योग किया त्यों ही भगवान् की गुणश्रेणी निर्जरा के बल से कर्मरूपी सेना खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होने लगी विशुद्धि को बढ़ाते हुए भगवान् क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ हो गये।

प्रथम ही उन्होंने मोहराजा के अंगरक्षक के समान अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण संबंधी आठ कषायों को चूर्ण किया। फिर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद तथा नौ कषाय नाम के हास्य आदि छह योद्धाओं को नष्ट कर दिया। अनन्तर संज्वलन क्रोध, मान, माया को नष्ट कर बादर लोभ को भी नष्ट कर दिया। महाध्यानरूपी रंगभूमि में चारित्ररूपी ध्वज को फहराते हुए, ज्ञानरूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए और दयारूपी कवच को पहने हुए महायोद्धा भगवान् ने अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुण स्थान की जयश्री प्राप्त कर ली।

नवमें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का नाश होता है। उनके नाम १.-नरक गति २. नरकगत्यानुपूर्वी ३. तिर्यग्गति ४. तिर्यग्गत्यानुपूर्वी ५. एकेन्द्रिय ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय जाति ९. आतप १०. उद्योत ११. स्थावर १२. सूक्ष्म १३. साधारण १४. स्त्यानगृद्धि १५. निद्रा-निद्रा १६. प्रचला-प्रचला १७. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध १८.मान १९. माया २०. लोभ २१. प्रत्याख्यानावरण क्रोध २२. मान २३. माया २४. लोभ २५. नपुंसकवेद २६. स्त्रीवेद २७. हास्य २८. रति २९. अरति ३०. शोक ३१. भय ३२. जुगुप्सा ३३. पुरुषवेद ३४. संज्वलन क्रोध ३५. संज्वलन मान और ३६. संज्वलन माया ये ३६ प्रकृतियाँ हैं।

अनंतर भगवान ऋषभदेव ने सूक्ष्म सांपराय नामक दशवें गुण स्थान में पहुँचकर सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट कर दिया। उस समय क्षपक श्रेणी रूपी रंगभूमि में मोहरूपी शत्रु के नष्ट हो जाने से अतिशय देदीप्यमान होते हुए मुनिराज वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे किसी कुश्ती के मैदान से प्रतिमल्ल के भाग जाने पर विजयी मल्ल

सुशोभित होता है। तदनन्तर अविनाशी गुणों का संग्रह करने वाले भगवान् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान में प्राप्त हुए। वहाँ पर मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, निद्रा और प्रचला इन सोलह प्रकृतियों को ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मों को जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ हो गये। इस प्रकार ६३ प्रकृतियों को जड़मूल से नष्ट कर भगवान् अर्हन्त अवस्था को प्राप्त हो गये।

तीर्थंकर होने के पूर्व ही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक, मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन सात कर्मों को नष्ट कर क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट कर लिया था। अनंतर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेने पर इस भव में मनुष्यायु के सिवाय नरकायु, तिर्यंच आयु और देवायु इन तीन आयु की सत्ता न होने से ये तीन प्रकृतियाँ बिना प्रयास के ही नष्ट हो गई थीं। नवमें गुणस्थान में ३६, दशवें में १ तथा बारहवें में १६ इस तरह ७+३+३६+१+१६=६३ इन त्रेसठ प्रकृतियों को नष्टकर केवली बन गये।

उसी समय नवकेवल-लब्धियों के स्वामी हो गये और समवसरण का वैभव प्राप्त हो गया। फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन इन्द्रों ने आकर भगवान् का केवलज्ञान महोत्सव मनाया था।

जिस समय भगवान् को केवलज्ञान प्रगट हुआ उसी समय वे पृथ्वी से ऊपर ५००० धनुष (२०००० हाथ) आकाश में अधर विराजमान हो गये। उसी समय स्वर्ग में सौधर्म इन्द्र आदि इन्द्रों के

आसन कंपायमान हो उठे। उनके मुकुट झुक गये। सारे संसार में शांति छा गई और तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न हो गया। कल्पवासी देवों के यहाँ बिना बजाये घण्टा बजने लगा, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद शुरू हो गया, व्यंतर देवों के घरों में नगाड़ों के जोरदार शब्द होने लगे और भवनवासी देवों के भवनों में अपने आप शंख बजने लगे। कल्पवृक्षों से पुष्प वर्षा होने लगी। उसी क्षण इन्द्र ने भगवान् को केवलज्ञान प्रगट हुआ जानकर देवकारीगरों को समवसरण रचना की आज्ञा दे दी। अर्धनिमिष से भी कम समय में समवसरण तैयार हो गया और उसमें कमलासन पर भगवान् चार अंगुल अधर विराजमान हो गये।

सौधर्म इन्द्र आदि सभी इन्द्रों ने अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ हो असंख्य देव-देवियों के परिकर के साथ प्रस्थान कर दिया। सबसे आगे किल्विषिक जाति के देव जोर-जोर से सुन्दर नगाड़े बजा रहे थे, उनके पीछे, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल अनीक और प्रकीर्णक जाति के देव अपने-अपने वाहनों पर बैठकर सौधर्म इन्द्र के पीछे-पीछे चल रहे थे। अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। गंधर्व देव बाजे बजा रहे थे और किन्नरियाँ मंगलगीत गा रही थीं। इस प्रकार देवों की सेना असंख्य वैभव के साथ वहाँ आ रही थी।

(२१)

समवसरण की 'दिव्य भूमि' स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊँची "कल्पभूमि" होती है। भगवान् ऋषभदेव की समवसरण भूमि का विस्तार १२ योजन ४८ कोश प्रमाण है। यह भूमि कमल के आकार की होती है। इसमें गंध कुटी तो कर्णिका के समान ऊपर ऊँची उठी होती है और बाह्य भाग कमल दल के समान

विस्तृत होता है। यह नीलमणि से निर्मित रहती है। इसमें चारों दिशाओं में मानस्तंभ होते हैं जो कि दो-दो हजार पहलू के होते हैं। ये बारह योजन की दूरी से दिखाई देते हैं। जिनका मन अहंकार से सहित है ऐसे देवों और मनुष्यों को ये वहीं रोक देने वाले हैं।

"चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं।"

मानस्तंभ के चारों दिशाओं में चार-सरोवर हैं। इसके आगे एक वज्रमयकोट है। इस कोट के चारों ओर से घेर कर एक परिखा हैं उसमें घुटनों तक जल भरा हुआ है। उसके चारों ओर लताओं का उपवन है। उसको घेर कर सुवर्ण का परकोटा है। उसमें चार गोपुर द्वार हैं। उन द्वारों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल हैं जो अपने प्रभाव से हाथ में मुद्गर लिए हुए अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते हैं। इन गोपुरों में मणिमय तोरणों के दोनों ओर छत्र चमर आदि आठ मंगल द्रव्य एक सौ आठ, एक सौ आठ संख्या में सुशोभित हैं। उन गोपुर के आगे वीथियों के दोनों ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्य शालाएं हैं। जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव कन्यायें नृत्य करती हैं। अनन्तर पूर्व दिशा में अशोक वन, दक्षिण में सप्तपर्ण, पश्चिम में चंपक और उत्तर में आम्र वन हैं। इन वनों में एक-एक मुख्य वृक्ष सिद्ध प्रतिमाओं से सहित हैं। इन वनों में क्रम से छह-छह वापिकायें हैं। ये क्रम से उदय, विजय, प्रीति और ख्याति नामक फलों को देती हैं। आगे पुनः बत्तीस नाट्यशालाएं हैं। उन पर ज्योतिषी देवांगनाएं नृत्य करती हैं। आगे चारों ओर से घेरे हुए वज्रमय वेदिका है। चारों गोपुरों के आगे चार वीथियाँ हैं। उनके दोनो पसवाड़े में ध्वजाएं फहराती हैं। इन ध्वजाओं में मयूर, हंस, माला आदि दश प्रकार

के चिन्ह क्रमशःहोते हैं। इनमें छोटी-छोटी घंटिकायें लगी हुई हैं। विशेष रीति से एक दिशा में एक करोड़ सोलह लाख चौंसठ हजार हैं और चारों दिशा संबंधी ध्वजाएं चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार से अधिक हैं। आगे की नृत्यशालाओं में व्यन्तर देवियाँ नृत्य करती हैं। उसके आगे स्वर्ण निर्मित दूसरा परकोटा है। इस कोट के द्वारों पर भवनवासी इन्द्र द्वारपाल हैं। ये बेंत की छड़ी धारण किए हुए पहरा देते हैं।

उसके आगे नाट्यशालाएं, धूपघट और कल्पवृक्ष वन हैं। आगे नौ-नौ स्तूप हैं। ये स्तूप पद्मराग मणियों से निर्मित हैं। उनके समीप स्वर्ण रत्नों से निर्मित मुनियों के और देवों के योग्य सभागृह हैं। सभागृहों के आगे स्फटिक मणि से निर्मित तीसरा परकोटा है। इस परकोटे के चारों गोपुरों के दोनों बाजू में उत्तम रत्नमय आसनों के मध्य मंगल रूप दर्पण हैं जो देखने वालों के पूर्व भव दिखलाते हैं। इन गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव द्वारपाल हैं। आगे अन्तर्वन, नाट्यशालाएं, सिद्धार्थवृक्ष आदि हैं।

आगे एक मंदिर हैं। उसमें बारह स्तूप हैं। इनके आगे नन्दा, भद्रा, जया और पूर्णा बावड़ियाँ हैं। जिनमें स्नान करके जीव अपना पूर्वभव जान लेते हैं। इनमें देखने वाले जीवों को अपने आगे-पीछे के सात भव दिखने लगते हैं। वापियों के आगे एक जयांगण हैं जो तीन लोक की विजय का आधार है। उसके मध्य में एक इन्द्रध्वज सुशोभित होता है। उसके आगे एक हजार खंभों पर खड़ा हुआ एक महोदय मंडप है, जिसमें मूर्तिमयी श्रुतदेवता विराजमान रहती हैं। उस श्रुत देवता को दाहिने भाग में करके अनेक मुनियों से युक्त श्रुतकेवली धर्म का व्याख्यान करते हैं। इन मंडपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने

हैं। जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक मुनि इच्छुक जनों की इष्ट वस्तु का निरूपण करते हैं।

आगे विजयांगण के कोनों में चार लोक स्तूप हैं। जिन पर ध्वजाएं फहराती हैं। ये लोक स्तूप तीन लोक के आकार वाले स्वच्छ स्फटिक से निर्मित हैं। इनमें लोक की रचना स्पष्ट दिखाई देती हैं। इन स्तूपों के आगे मध्यलोक स्तूप हैं जिसके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट है। आगे मन्दर स्तूप हैं जो कि सुमेरु पर्वत की रचना स्पष्ट करते हैं। उनके आगे क्रम से कल्पवास-स्तूप, ग्रैवेयक स्तूप, अनुदिश नाम के नौ स्तूप और सर्वार्थसिद्धि नामक स्तूप हैं। ये सब अपने नाम के अनुरूप ही रचनाओं को दिखा रहे हैं। इनके आगे सिद्ध स्तूप हैं। जिनमें सिद्धों के स्वरूप को प्रगट करने वाली दर्पणों की छाया दिखाई देती है।

उनके आगे भव्यकूट नाम के स्तूप हैं। जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं। उनके नेत्र अन्धे हो जाते है। आगे प्रमोहस्तूप हैं। पुनः प्रबोध नाम का स्तूप हैं। आगे अत्यन्त ऊँचे दस स्तूप हैं। इसके आगे पुनः एक कोट है जिसके मंडल की भूमि को बचाकर देव तथा मनुष्य प्रदक्षिणा देते रहते हैं आगे परिधि हैं। वहाँ गणधर देव की इच्छा करते ही एक पुर बन जाता है। उसके त्रिलोकसार, श्रीकांत आदि अनेकों नाम हैं। भगवान के प्रभाव से वह नगर तीनों लोकों के श्रेष्ठ पदार्थों से युक्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला होता है।

उसके बनाने वाला कुबेर भी यदि एकाग्रचित हो उसके बनाने का पुनः विचार करे तो वह भी नियम से भूल कर जायेगा, फिर अन्य मनुष्य की तो बात ही क्या है। उस नगर का निर्माण यथा-स्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र हैं। उसके तल भाग में तीन

जगती हैं। उनमें द्वारपालों के द्वार पर कुबेर की धनराशि का ढेर है। इस जगती में हजारों कूट और ध्वजाएं हैं।

वहाँ चारों ओर देदीप्यमान पीठ होते हैं। उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं। दूसरी पीठ पर चार ध्वजाएं हैं। तीसरी पीठ पर गन्धकुटी नाम का प्रसाद हैं। उस पर भगवान् का सिंहासन हैं। उस कमलासन पर चार अंगुल अधर जिनेन्द्रदेव विराजमान रहते हैं।

पहली पीठ-कटनी के चारों तरफ आकाश स्फटिक की दीवालों वाले बारह विभाग सुशोभित हैं। इन बारह कोठों में क्रम से प्रथम कोठे में गणधर देव और अपने-अपने दीक्षा गुरुओं से अधिष्ठित मुनिगण सुशोभित हो रहे हैं। द्वितीय कोठे में कल्पवासी देवियाँ, तृतीय में आर्यिकायें और श्राविकायें, चतुर्थ में ज्योतिषी देवियाँ, पाँचवें में व्यन्तर देवियाँ, छठे में भवनवासिनी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतरदेव, नवमें में ज्योतिषी देव, दशवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य चक्रवर्ती आदि श्रावकगण और बारहवें कोठे में सिंह, हरिण आदि पशु गण बैठे रहते हैं।

इन बारह सभाओं में संख्यातों मनुष्यों, तिर्यञ्चों से तथा असंख्यातों देव-देवियों से वेष्ठित भगवान चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य से विभूषित अनन्त चतुष्टय आदि अनन्त गुणों के स्वामी देवाधिदेव विराजमान रहते हैं।

प्रश्न-जितना वर्णन आपने समवसरण के अन्दर की चीजों का किया है। मेरी समझ में नहीं आया कि इतना वैभव समवसरण में आवे।

उत्तर-इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। एक सामान्य अणिमा ऋद्धि धारक देव भी कमल की नाल के तन्तु जैसे बारीक छिद्र में चक्रवर्ती के

कटक को स्थापित कर सकता है अथवा अक्षीण-महालय ऋद्धि धारक मुनि जहाँ बैठते हैं, उस चार हाथ प्रमाण कमरे में भी असंख्यात देवगण, विद्याधर, मनुष्य, पशु आदि बैठकर उपदेश सुन सकते हैं। पुनः तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान के सानिध्य में इतना चमत्कार हो जावे तो कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है।

इस समवसरण में गन्धकुटी पर विराजमान भगवान इस पृथ्वी तल से ५००० धनुष=२०००० हजार हाथ ऊँचे जाकर विराजमान हैं। अतः इसमें १-१ हाथ की २०००० (बीस हजार) सीढ़ियाँ हैं। इस पर अन्धे, लँगड़े, बाल, वृद्ध और रोगी आदि सभी अड़तालिस मिनट के भीतर ही भीतर चढ़ जाते हैं। यह भगवान का ही माहात्म्य है। समवसरण में मिथ्यादृष्टि, पाखंडी, शूद्र, क्रूर प्राणी और अभव्यजीव नहीं जा सकते हैं।

ऐसे समवसरण में स्थित भगवान को नमस्कार करने से समवसरण का ध्यान करने से आज भी महान् पुण्य का बंध हो जाता है। ऐसा समवसरण आज विदेहों में सीमंधर आदि तीर्थंकरों का विद्यमान है।

(२२)

सौधर्म इन्द्र उस समवसरण भूमि को देखकर विस्मय चकित होते हुए जिनेन्द्र भगवान् के दर्शनों की इच्छा से बहुत अधिक विभूति से युक्त होकर असंख्य देवों के साथ भीतर प्रवेश करते हैं। आठ महाप्रातिहार्य से विभूषित जिनेन्द्रदेव के चरणों में साष्टांग नमस्कार करके श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथों से गन्ध, पुष्पमाला, धूप, दीप, अक्षत और उत्कृष्ट अमृत के पिंडों द्वारा भगवान के चरण कमलों की पूजा करते हैं। पुनः अनेक स्तोत्रों द्वारा भगवान के चरण कमलों की पूजा करते हैं। पुनः अनेक स्तोत्रों द्वारा भगवान के गुणों की स्तुति करते हैं। इस प्रकार मुख्य-मुख्य

बत्तीस इन्द्र (भवनवासी के १०, व्यंतरों के ८, ज्योतिषी के २ और कल्पवासी के १२) अनेक सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष सिद्ध, गन्धर्व और चारण समूह के साथ-साथ जगत् के एकमात्र बंधु ऐसे ऋषभदेव भगवान की स्तुति कर समवसरण भूमि में जिनेन्द्र भगवान की ओर मुख कर उन्हीं के चारों ओर यथायोग्य रूप से अपने-अपने कोठे में बैठ जाते हैं।

उसी क्षण राजर्षि भरत को एक साथ तीन समाचार प्राप्त होते हैं। पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है २. अंतःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है और ३. आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। ये तीनों ही कार्य एक साथ हुए हैं। इनमें से पहले किसका उत्सव करना चाहिए? यह सोचते हुए सम्राट् भरत एकक्षण के लिए व्याकुल से हो जाते हैं—

"पुण्यतीर्थ भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होना यह धर्म का फल है। चक्ररत्न का प्रकट होना यह अर्थ प्राप्त कराने वाले अर्थ पुरुषार्थ का फल है और पुत्र का होना यह काम पुरुषार्थ का फल है अथवा यह सभी धर्म पुरुषार्थ का ही पूर्ण फल है, क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्ष का फल है और काम उसका रस है।"

इतना सोचकर तत्क्षण ही वे निर्णय लेते हैं कि—

"सब कार्यों में पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए क्योंकि-वह सर्व कल्याणों को प्राप्त कराने वाला है और बड़े-बड़े फल देने वाला है अतः सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् की पूजा ही करनी चाहिए।"

उसी क्षण सम्राट् की आज्ञा से आनन्दकाल में बजने वाले नगाड़े बजने लगते हैं। भरत महाराज अपने छोटे भाइयों, अंतःपुर की स्त्रियों और नगर के मुख्य-मुख्य लोगों के साथ बहुत भारी पूजा की सामग्री

साथ लेकर प्रभु के दर्शनों के लिए प्रस्थान कर देते हैं। उनके साथ बहुत बड़ी सेना चल पड़ती है जिसमें असंख्यात ध्वजाएँ लहरा रही हैं ऐसी वह सेना एक महान् समुद्र के समान गंभीर शब्द करते हुए अयोध्या से प्रस्थान कर देती है।

भरत महाराज समवसरण में पहुँचकर तीन प्रदक्षिणा देकर मानस्तंभों की पूजा करके आगे बढ़ते हैं। वहाँ क्रम-क्रम से परिखा, लताओं के वन, कोट, चार वन और दूसरे कोट का उल्लंघन कर ध्वजाओं, कल्पवृक्षों की पंक्तियों, स्तूपों और मकानों के समूहों को देखते हुए आश्चर्य को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर द्वारपाल देवों के द्वारा भीतर प्रवेश कराये गये भरत महाराज भगवान् के श्रीमण्डप की शोभा को देखकर प्रथम पीठिका पर पहुँचकर धर्मचक्रों की पूजा करके द्वितीय पीठिका पर स्थित ध्वजाओं की पूजा करते हैं। पुनः गन्धकुटी के मध्य में महामूल्य श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान आदि-ब्रह्मा श्री ऋषभदेव को देखकर भक्ति से रोमांचित हो प्रभु की प्रदक्षिणा देकर पुनः पुनः नमस्कार करते हैं। जल, चंदन आदि सामग्री से महान् अतिशायि पूजा करके सैकड़ों स्तुतियों से स्तुति करते हैं—

"हे भगवन् ! आपने घातिया कर्मों को नष्टकर परमज्योति-स्वरूप दिव्य केवलज्ञान को प्रकट कर संपूर्ण चराचर विश्व को जान लिया है। इसलिए आप ही इस जगत् के परमपिता परमेश्वर हैं, आप ही देवाधिदेव हैं।"

इत्यादि प्रकार से स्तुति करके श्रीमण्डप में प्रवेश कर वहाँ अपने कोठे में यथायोग्य स्थान में बैठ जाते हैं।

उसी समय पुरिमताल नगर के स्वामी, भरत के छोटे भाई राजा

वृषभसेन भगवान् के दर्शन कर तत्क्षण ही वैराग्य को प्राप्त हुए भगवान् के पास दीक्षा धारण कर लेते हैं और प्रभु के प्रथम गणधर हो जाते हैं। तत्क्षण ही उन्हें सातों ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और मनःपर्यय ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। उसी काल में कुरुवंश शिरोमणि महाराज सोमप्रभ, श्रेयांसकुमार तथा अन्य राजागण भी दीक्षा लेकर भगवान के गणधर हो जाते हैं।

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के बीच में गणिनी (स्वामिनी) पद को प्राप्त कर लेती हैं और सर्वदेवों के द्वारा पूज्य हो जाती हैं। भगवान् ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुंदरी भी आर्यिका दीक्षा लेकर ब्राह्मी के सदृश पूज्य बन जाती हैं।

इनके सिवाय अन्य अनेक राजागण तथा राजकन्यायें संसार से भयभीत हो प्रभु के समीप दीक्षा धारण कर लेते हैं।

अनन्तर भगवान् से प्रबोध को प्राप्त होने वाला वह सभा रूपी सरोवर जब हाथरूपी कुड़मल जोड़कर शांत हो जाता है तब महाराज भरत विनय से मस्तक झुकाकर भगवान ऋषभदेव से तप्वों का स्वरूप जानने की इच्छा रखते हुए प्रार्थना करते हैं—

"हे तीन लोक के नाथ! हे देवाधिदेव! हे भगवन् ! तत्त्वों का स्वरूप कैसा है? मार्ग कैसा है? और उसका फल भी कैसा है? आप हम सबके लिए कहिए।"

भगवान् की अतिशय गंभीरवाणी रूप दिव्यध्वनि खिरती है उस समय भगवान् के न तो तालु, ओठ आदि स्थान ही हिलते हैं और न उसके मुख की कांति ही बदलती हैं तथा जो अक्षर प्रभु के मुख से निकलते हैं उनसे प्रभु के मुख कमल पर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं

होता है। भगवान् की वह वाणी बोलने की इच्छा के बिना ही प्रगट हो रही है, सो ठीक ही है क्योंकि योगबल से उत्पन्न हुई महापुरुषों की शक्तियाँ अचिन्त्य ही होती हैं।

भगवान् कहते हैं–

"हे आयुष्मान् ! जीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व है, यही सम्यग्ज्ञान का अंग है और यही जीवों के लिए मुक्ति का कारण है। इन तत्त्वों का श्रद्धान, ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान ही परब्रह्मस्वरूप मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। अतः तत्त्वों के जानने का फल निर्वाण ही है।"

भगवान विस्तार से धर्म का उपदेश दे रहे हैं। उसमें आत्मा , धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ, मुनि श्रावकों का धर्म, स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का फल, बन्ध-मोक्ष तथा इनके कारण आदि का स्पष्ट वर्णन है। इसी प्रकार भगवान् के उपदेश में तीनों लोकों का आकार, नरकों के पटल, द्वीप, समुद्र, कुलाचल और सरोवरों का भी विस्तार है। स्वर्ग, देवों की आयु, उनके भोग, मोक्षस्थान तथा त्रसनाली का भी खुलासा है एवं तीर्थंकरों का चरित्र, चक्रवर्तियों का वैभव तीर्थंकर पद के लिए कारणभूत सोलह कारण भावनाएं, दशधर्म तथा भूत, भविष्यत् वर्तमान काल आदि सर्व वस्तुओं का विस्तार से कथन किया जा रहा है।

भगवान् की दिव्यध्वनि सात सौ अठारह भाषाओं में तथा समस्त जनता की समस्त भाषाओं में परिणत हो रही हैं।

इस प्रकार से प्रभु की दिव्य ध्वनि से परम प्रबोध को प्राप्त हुए भरत आदि श्रोतागण सम्यग्दर्शन की परम विशुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रुतकीर्ति नाम के एक बुद्धिमान पुरुष श्रावक के व्रत ग्रहण कर श्रावकों में श्रेष्ठ हो जाते हैं और एक प्रियव्रता नाम की पवित्र महिला श्राविकाओं के व्रतों को ग्रहण कर श्राविकाओं में अग्रणी हो जाती है।

भरत के भाई अनन्तवीर्य भी संबोध प्राप्त कर दीक्षा ले लेते हैं। उस युग में इन्होंने ही सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्त किया है।

जो चार हजार राजा भगवान् के साथ दीक्षा लेकर भ्रष्ट तपस्वी बन गये थे वह भी वहाँ समवसरण में आकर तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर फिर से दीक्षा लेकर सच्चे मुनि बन जाते है। इनमें से मरीचिकुमार ही पुनः दीक्षा न लेकर अपने मिथ्या मत का ही प्रचार करता रहता है। राजर्षि भरत के चले जाने के बाद भगवान् की दिव्यध्वनि बन्द हो जाती है। तब इन्द्र उठकर खड़ा होकर भक्ति में गद्‌गद् हो भगवान् की १००८ नामों से स्तुति करना प्रारंभ कर देता है।

(२३)

भरत महाराज अपने छोटे भाई बाहुबली आदि के साथ जगद्‌गुरु भगवान की वंदना कर वापस अपने नगर की ओर आ रहे हैं। अब उन्हें चक्ररत्न की पूजा करने की कुछ जल्दी हो रही है। सम्राट् भरत अपनी अयोध्या राजधानी में आकर बहुत ही वैभव के साथ चक्ररत्न की पूजा करते हैं। पुनः पुत्ररत्न का जन्मोत्सव मनाते हैं। उस समय राजा भरत ने इतना दान दिया था कि इस भरत क्षेत्र में कोई भी दरिद्र रह ही नहीं गया था। भरत महाराज ने चौराहों में, गलियों में, नगर के भीतर और बाहर रत्नों के ढेर लगवा दिये, वे सब रत्न याचकों को दे दिये गये थे।

अनन्तर महाराज भरत दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं। उस समय गंभीर शब्द करते हुए प्रस्थान काल के नगाड़े बज रहे हैं।

महामुकुटबद्ध राजा लोग भरत को चारों ओर से घेर कर खड़े हुए हैं। सैकड़ों पुण्याशीर्वाद के द्वारा नगर के लोग भरत की पूजा कर रहे हैं और जय-जय के नारों से आकाश को मुखरित कर रहे हैं। भरत सम्राट् चक्ररत्न को आगे कर स्वयं रथ पर आरूढ़ हो नगरी के बाहर निकलते हैं। उनके पीछे असंख्य सेना चल रही है। सो मानों पृथ्वीतल को कंपायमान ही कर रही है।

भरत महाराज इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड को जीतकर अपनी विजय प्रशस्ति लिखने के लिए वृषभाचल पर्वत के समीप पहुँचते हैं। यह पर्वत १०० योजन ऊँचा, मूल में १०० योजन विस्तृत एवं घटते हुए ऊपर भाग में ५० योजन विस्तार वाला है। श्वेत वर्ण का है और कल्पांत काल तक कभी नष्ट नहीं होने वाला-अनादि-अनिधन है।[१] उत्तरीय भरत क्षेत्र के तीन खण्डों के मध्यखण्ड में ठीक बीच में स्थित है। चक्रवर्ती भरत काकिणी रत्न लेकर ज्यों ही उस पर्वत की भित्ति पर लिखने के लिए तत्पर होते हैं, देखते हैं कि उस पर असंख्यातों चक्रवर्तियों के नाम लिखे हुए हैं ऐसा देखते ही उनका गर्व खर्व हो जाता है ओर वे सोचने लगते हैं—

"अहो! इस पृथ्वी पर मेरे सदृश ही असंख्यातों चक्रवर्ती हो गये हैं और वे सब इसे भोगकर पुनः छोड़-छोड़ कर चले गये हैं अतएव यह पृथ्वी अनन्य शासन (जिस पर दूसरे का शासन न चले) नहीं है।"

पुनः चक्रवर्ती भरत स्वयं अपने हाथों से (दण्डरत्न से) एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखते हुए प्रायः समस्त संसार को स्वार्थपरायण समझते हैं। चक्रवर्ती लिख रहे हैं—

"स्वस्ति श्री इक्ष्वाकुवंश रूपी आकाश का चंद्रमा, समस्त पृथ्वी

१. आदिपुराण पर्व ३२।

का स्वामी, मैं भरत हूँ, मैं अपनी माता के सौ पुत्रों में से सबसे बड़ा पुत्र हूँ, प्रजापति प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का पुत्र और अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराज का पौत्र हूँ, सोलहवाँ मनु हूँ, चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती हूँ, ऐसा मैं भरत षट्खण्ड वसुन्धरा को जीतकर एकच्छत्र समस्त पृथ्वी का पालन करने वाला होते हुए भी इस लक्ष्मी को नश्वर समझकर जगत् में फैलने वाली अपनी कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित कर रहा हूँ[१]।"

प्रशस्ति को लिखते समय देवगण आकाश से भरत के ऊपर पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। जोर-जोर से नगाड़ों के शब्दों के साथ आकाश और भूमि पर सर्वत्र चक्रवर्ती भरत के जय-जयकार के शब्दों से समस्त दिशायें व्याप्त हो रही हैं। इस प्रशस्ति में लेख, साक्षी और उपभोग योग्य क्षेत्र ये तीनों बातें थीं। अर्थात् लेख तो वृषभाचल पर लिखा गया था, दिग्विजय करने से छह खण्ड भरतक्षेत्र उनके उपभोग का क्षेत्र था और देवगण साक्षी थे। चक्रवर्ती को इस दिग्विजय में ६० हजार वर्ष लगे थे।

अनन्तर भरत महाराज अपना दिग्विजय पूर्ण कर अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं कि उसी समय चक्ररत्न बाहर ही रुक जाता है। ऐसा देखते ही देव गण—

"यह क्या? यह क्या?"

ऐसा शब्द करने लगते हैं। भरत के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती है।

"अहो! यह क्या? सर्वत्र छह खण्ड में अबाधित गति से चलने वाला चक्ररत्न आज मेरे इस नगर के बाहर ही क्यों रुक गया? क्या अभी भी मुझे कुछ जीतना शेष है?"

१. आदिपुराण पर्व ३२, पृ. १२५।

पुरोहित के द्वारा जानकारी प्राप्त होती है कि—

"हाँ, महाराज! अभी आपके सभी भ्राता अजेय हैं। अतः यह चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश नहीं कर सकता है।"

चक्रवर्ती भरत मंत्रियों से मंत्रणा करके एक चतुर दूत को पत्र देकर अपने छोटे भाईयों के पास भेज देते हैं। वृषभसेन और अनंतवीर्य ने तो भगवान् के पास दीक्षा ही ले ली थी। बाहुबली से अतिरिक्त अन्य भाइयों के पास दूत पहुँचकर भरत का संदेशा देता है। सभी भाई मिलकर आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। चूँकि वे सब स्वाभिमानी थे भरत को राजाधिराज मानकर नमस्कार करते हुए उनके शासन में नहीं रहना चाहते थे।

दूत के द्वारा यह समाचार विदित कर यद्यपि भरत को शोक और खेद होता है परन्तु उपाय न होने से वे आगे बाहुबली के लिए बहुत कुछ ऊहापोह करके उनके पास भी दूत भेजते हैं। बाहुबली अनेक चर्चाओं के बाद भरत से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। यह भाई-भाई के महायुद्ध का निर्णय उस युग की आदि में महान् आश्चर्य का विषय बन जाता है। अंत में मंत्रियों की सलाह से ये दोनों भाई आपस में ही दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध करने की घोषणा कर देते हैं।[२] तीनों युद्ध में भरत हार जाते हैं तब वे क्रुद्ध होकर अपना चक्ररत्न बाहुबली के ऊपर चला देते हैं। आश्चर्य है कि वह चक्ररत्न बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हीं के पास खड़ा रह जाता है।[३] इस दृश्य को देखकर सभी राजा लोग भरत को धिक्कार देते हैं और बाहुबली की जयकारों

१. आदिपुराण, पर्व ३६, पृ. २०३।

२. आदिपुराण पर्व ३६, पृ. २०६।

से आकाश गुंजा देते हैं।

उसी क्षण बाहुबली इस नश्वर राज्य लक्ष्मी से विरक्त हो जाते हैं कि वहाँ का वातावरण ही बदल जाता है। दोनों भाई वैरभाव को भुलाकर आपस में चर्चा कर रहे हैं। भरत बाहुबली को भरसक रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु बाहुबली क्षमायाचना कराकर अपने पुत्र महाबली को राज्य सौंपकर स्वयं गुरुदेव भगवान् ऋषभदेव के चरणों की आराधना करते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। वे उसी क्षण ध्यान में खड़े होकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर लेते हैं।[१]

इधर भरत का चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश करता है और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजागण तथा अगणित देवगण मिलकर उन भरत सम्राट् का चकवर्ती पद के योग्य महान् राज्याभिषेक कर देते हैं।

उधर बाहुबली महायोगिराज ध्यान में खड़े हैं। उन्हें मनः पर्याय ज्ञान प्रकट हो गया है और सर्वौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो चुकी हैं। अनेक विद्याधर आकर उनके चरणों की पूजा कर रहे हैं। सर्पों ने उनके चरणों में वामी बना ली है और चिड़ियों ने घोसलें बना लिये हैं। माधवी लतायें उनकी भुजाओं तक पहुँच चुकी हैं और भी अनेक अतिशायि चमत्कार वहाँ दिख रहे हैं।

दीक्षा लेते ही बाहुबली भगवान् ने एक वर्ष का उपवास लेकर प्रतिमायोग धारण कर लिया था। वह उनका योग पूर्ण होने वाला है कि भरत चक्रवर्ती आकर उनके चरणों में नमस्कार करके उनकी पूजा करते हैं, तत्क्षण ही बाहुबली को केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इसके पूर्व 'भरत को मुझसे क्लेश हो गया' यह विकल्प बाहुबली के मन में हो

१. आदिपुराण, पर्व ३६, पृ. २०९।

जाया करता था अतः उनके पूजा करते ही बाहुबली का मन निर्विकल्प हो गया और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। उसी क्षण देवों के द्वारा गंधकुटी की रचना हो जाती है और भगवान् बाहुबली आकाश में ५००० धनुष जाकर कमलासन पर अधर विराजमान हो जाते हैं।

भरत महाराज के हर्ष का पार नहीं रहता है वे पुनरपि गंधकुटी में पहुँच कर भगवान् बाहुबली की अतिशयपूर्ण सामग्री से महान् आश्चर्यकारी–अतिशायि पूजा करते हैं। भगवान् बाहुबली कुछ वर्षों तक पृथ्वीतल पर विहार कर अनंतर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में पहुँच जाते हैं।[१]

(२४)

चक्रवर्ती भरत महाराज षट्खण्ड पृथ्वी का एक छत्र, उपभोग करते हुए सर्वप्रजा का पुत्रवत् पालन कर रहे हैं। नवनिधि, चौदह रत्न, छ्यानवे हजार रानियाँ आदि का इतना ऐश्वर्य होते हुए भी सम्राट् भरत धर्म की भावना को दिनदूनी रात चौगुनी वृद्धिंगत करने में ही लगे रहते हैं। एक दिन सहसा उनके मन में विचार आता है—

"मेरा यह अतुल वैभव है, दूसरे के उपकार में मेरी इस संपदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है? मैं श्री जिनेंद्रदेव का बड़े ऐश्वर्य के साथ 'महामह' नाम का यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को संतुष्ट कर दूं। सदा निःस्पृह रहने वाले दिगम्बर मुनिराज तो हम लोगों से धन लेते नहीं हैं। परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धनधान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजने के योग्य है? जो अणुव्रत को धारण करने

१. भगवान् बाहुबली के युद्ध का और ध्यान का सुन्दर वर्णन मेरे द्वारा रचित 'बाहुबलीचरित' पद्य में देखिये। इसका कैसेट भी बन चुका है।

वाले हों, धीर वीर हों और गृहस्थों में मुख्य हों ऐसे पुरुष ही हम जैसे राजाओं के द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदि वाहनों के द्वारा तर्पण (संतुष्ट) करने के योग्य हैं।"

इस प्रकार निश्चय कर योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से राजराजेश्वर भरत ने समस्त राजाओं को अपने यहाँ बुलाया। सबके यहाँ सूचना भिजवा दी कि—

"आप लोग अपने-अपने इष्ट-मित्र आदि को साथ लेकर हमारे उत्सव में आवें।"

इधर चक्रवर्ती ने उन सबकी परीक्षा के लिए अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। उन आने वालें में जो अव्रती थे वे बिना कुछ सोच विचार के राजमंदिर में घुस आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया। परन्तु बड़े-बड़े कुल में उत्पन्न हुए और अपने व्रत की सिद्धि के प्रयत्नशील उन लोगों ने जब तक मार्ग में हरे अंकुरे हैं तब तक उस मार्ग से प्रवेश करने की इच्छा नहीं की। उनमें से कुछ लोग वापस लौटने लगे और कुछ लोग वहीं खड़े रहे। पुनः चक्रवर्ती के अत्यधिक आग्रह से वे लोग दूसरे प्रासुक मार्ग से राजा के निकट पहुँचे। तब राजा भरत ने इनसे पूछा-

"आप लोग पहले किस कारण से नहीं आये?"

उन लोगों ने उत्तर दिया—

"महाराज! आज पर्व के दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नहीं किया जाता। हे देव! इन हरे अंकुरों में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं ऐसे सर्वज्ञदेव के वचन हम लोगों ने सुने हैं। इसलिए जिधर गीले-गीले अंकुर, पुष्प आदि से शोभा की गई थी उन पर पैर

रखकर हम लोग नहीं आये।"

इस प्रकार उनके वचन सुनकर प्रभावित हुए भरत महाराज ने व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान-मान आदि से सम्मानित किया। पद्मनाम की निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नाम के सूत्र से उन सबके चिन्ह किये तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया। पुनः भरत चक्रवर्ती ने उन्हें उपदेश देकर उनके कर्तव्य को बतलाया।

"हे व्रतों में प्रधान पुरुषों! भगवान् ने समवसरण में श्रावकों के लिए उपासकाध्ययन नाम के अंग का विस्तार से प्रतिपादन किया है उसमें संक्षेप में श्रावक के चार धर्म प्रमुख हैं। पूजा, दान, शील और उपवास अथवा गृहस्थ के षट्कर्तव्य कहे गये हैं—

इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप, यह षट्कर्म श्रावक का कुल धर्म है। इन षट् क्रियाओं में सर्वप्रथम इज्या है। इज्या पूजा को कहते हैं। इसके चार भेद हैं-नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक।

नित्यमह—प्रतिदिन अपने घर से जल, चंदन, अक्षत, पुष्प आदि अष्टद्रव्य सामग्री लेकर जिनमंदिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह है इसे सदार्चन भी कहते हैं। अथवा भक्तिपूर्वक अर्हंतदेव की प्रतिमा का, जिनमंदिर का निर्माण कराना तथा दानपात्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान देना भी नित्यमह है। इसके सिवाय अपनी शक्ति के अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियों की जो पूजा की जाती है इसे भी नित्यमह कहते हैं।

चतुर्मुख—महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ कहते हैं। इसी का दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है।

कल्पद्रुम—जिस जिनपूजा महामहोत्सव में कल्पवृक्ष के समान

सब जीवों को दान देते हुए सबकी इच्छाएँ पूर्ण की जावें वह कल्पद्रुम पूजा है। इसे चक्रवर्ती ही कर सकते हैं।

आष्टाह्निक पूजा—आष्टाह्निक पर्व में सब लोग करते हैं। यह सब जगत् में प्रसिद्ध ही है। आष्टाह्निक पर्व में सिद्ध-चक्र की आराधना या इन्द्रध्वज विधान, नन्दीश्वर विधान आदि अनुष्ठान करते हुए जो नन्दीश्वर द्वीप के ५२ चैत्यालयों की पूजा की जाती है। उसी का नाम आष्टाह्निक पूजा है।

इसके सिवाय ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करते हैं। बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों संध्याओं में उपासना करना तथा इन्हीं के समान जो और भी पूजा के प्रकार हैं वे सब इन चार भेदों में ही अन्तर्भूत हैं। यह जिनपूजा ही इज्या नाम से पहला कर्तव्य है।

वार्ता—शुद्ध आचरण पूर्वक खेती आदि के द्वारा आजीविका करना वार्ता किया है। यह भी गृहस्थ श्रावक का कर्तव्य है।

दत्ति—दान देना दत्ति क्रिया है, इसके दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ऐसे चार भेद हैं।

अनुग्रह करने योग्य प्राणियों पर अर्थात् दीन दुःखी लोगों पर करुणा करके उनके भय को दूर करना उन्हें यथायोग्य भोजन, पान, वस्त्र आदि देना दयादत्ति-दया दान है।

महातपस्वी मुनियों को पड़गाहन कर उन्हें आहार दान देना, उन्हें औषधि दान देना, शास्त्र आदि देना, वसतिका देना यह सब पात्रदत्ति अर्थात् पात्रदान है।

क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाले अन्य उत्तम गृहस्थ हैं उनके लिए पृथ्वी, सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के

साथ दान देना यह समदत्ति है।

अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पित कर देना सकलदत्ति है।

स्वाध्याय—शास्त्रों का पठन-पाठन और चिन्तवन करना स्वाध्याय है।

संयम—व्रत धारण करना अथवा त्रसजीवों की दया पालना, स्थावर जीवों का भी व्यर्थ ही घात नहीं करना और पाँचों इन्द्रियों को तथा मन को वश में रखना संयम है।

तप—उपवास आदि करना। शक्ति के अनुसार मुक्तावली, रविवार, दशलक्षण आदि व्रत करना तप है।

ये छह प्रकार की वृत्ति तुम द्विजों के करने योग्य हैं।जो इनका उल्लंघन करता है वह नाममात्र से द्विज है। तप, शास्त्रज्ञान और उत्तम जाति ये तीन ब्राह्मण होने के लिए कारण है। आप लोगों की आजीविका पाप से रहित है तथा दान, पूजा और अध्ययन से कार्य ही आपके लिए प्रमुख हैं। इसलिए मैं आज आप लोगों को 'ब्राह्मण' इस संज्ञा से सम्बोधित करके 'आप सभी के लिए मान्य हैं' ऐसी घोषणा करता हूँ। जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रिया से इस तरह दो बार उत्पन्न हुआ है वह द्विजन्मा अथवा द्विज है।

मनुष्य जाति सामान्यतया एक है, फिर भी वह चार वर्णों में विभाजित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीचवृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्य शूद्र कहलाते हैं।

इन चारों वर्णों में आपका ब्राह्मणवर्ण सभी वर्णों के द्वारा दान सन्मान आदि से मान्य होगा।

श्रावकाध्याय संग्रह में क्रियाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं— गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय। गर्भान्वय क्रिया के ५३ भेद हैं। दीक्षान्वय क्रिया ४८ प्रकार की हैं और कर्त्रन्वय क्रिया के ७ भेद माने गये हैं।[१]

ये सब क्रियाएँ आपको करना-कराना चाहिए।

इस प्रकार भरत क्षेत्र के अधिपति राजा भरत ने धर्म-प्रेम से राजा लोगों की साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करने वाले उन उत्तम द्विजों को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की। जिन्हें चक्रवर्ती से सत्कार प्राप्त हुआ है और शास्त्रों के पारंगत हैं ऐसे वे ब्राह्मण उस समय सभी के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुए थे। राजा भरत भी प्रतिदिन उन लोगों को दान आदि देकर अपने को धन्य मानने लगे सो ठीक ही हैं। क्योंकि अपने द्वारा बनाई गई सृष्टि को देखते हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने आपको कृतकृत्य न माने।

(२५)

जिन पूजा और दान में सतत प्रवृत्ति करते हुए चक्रवर्ती भरत अपना बहुत सा समय सुखपूर्वक बिता रहे हैं। इसी मध्य एक रात्रि में उन्हें कुछ विशेष स्वप्न दिखते हैं। उनकी निद्राभंग हो जाती हैं तभी वे कुछ खेद खिन्न होते हुए सोचने लगते हैं—

"ये स्वप्न मुझे प्रायः बुरे फल देने वाले जान पड़ते हैं तथा साथ में यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगे के पंचम काल में फल

१. आदिपुराण पर्व ३८, पृ. २४४ से हैं। इनका विस्तार वहीं से समझना चाहिए।

देने वाले होंगे। क्योंकि यहाँ इस समय भगवान् ऋषभदेव के प्रकाशमान रहते हुए प्रजा को इस प्रकार का उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है? इसलिए कदाचित इस कृतयुग-चतुर्थ काल के व्यतीत हो जाने पर जब पाप की अधिकता होने लगेगी तब ये अनिष्ट स्वप्न अपना फल दे सकेंगे। जो भी हो मेरा तो यह अनुमान ज्ञापन है। जब तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखने वाले भगवान् ऋषभदेव समवसरण में विराजमान हैं तब सारा स्पष्टीकरण प्रभु से ही करना चाहिए। इसमें मैंने जो ब्राह्मण वर्ण की एक नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान् के चरणों में निवेदन करना चाहिए। पुनः अच्छे पुरुषों का तो यह कर्तव्य है कि "वे प्रतिदिन गुरुओं का दर्शन करे उनसे अपना हित-अहित पूछें और बड़े वैभव से उनकी पूजा करें।[१]"

इस प्रकार मन में विचार कर महाराज भरत शय्या से उठकर प्रातःकालीन समस्त क्रियाएँ करते हैं। पुनः जगद्गुरु भगवान् की वन्दना के लिए प्रस्थान कर देते हैं। वहाँ पहुँचकर पहले समवसरण भूमि की बाहर से ही प्रदक्षिणाएँ देकर अन्दर प्रवेश करते हैं। वहाँ क्रम-क्रम से मानस्तंभ, चैत्यवृक्ष, स्तूप आदि की पूजा करते हुए भगवान् की गन्धकुटी के पास पहुँच जाते हैं। 'उस समय भक्तिपूर्वक भगवान् की वंदना करते हुए राजा भरत के परिणामों में इतनी विशुद्धि होती है कि उन्हें उसी क्षण ही अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है।'[२] अहो! भक्ति का माहात्म्य अचिन्त्य है।

१. द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् ।
महोज्यया च यष्टव्याः शिष्टानामिष्टमीदृशम् ।।१३।।

२. भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे।
विशुद्धिपरिणामाङ्गमवधिज्ञानमुद्बभौ।।२८।।
(आदिपुराण पर्व ४१, पृ. ३१९)

अनन्तर भगवान् की पूजा स्तुति कर चुकने के बाद सम्राट् भरत अपने मनुष्यों के कोठे में बैठ जाते हैं। पुनः विनय से हाथ जोड़कर भगवान् के श्रीचरणों में निवेदन करते हैं—

"हे भगवन् ! मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्र के मार्ग पर चलने वाले तथा श्रावकाचार में निपुण ऐसे 'ब्राह्मण' निर्माण किए हैं। हे प्रभो! समस्त धर्मरूपी सृष्टि को साक्षात् उत्तम करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने यह बहुत बड़ी मूर्खता की है कि जो यह नई सृष्टि बना दी है। देवाधिदेव! इन ब्राह्मणों की रचना में क्या तो दोष है? और क्या गुण है? यह रचना योग्य हुई या नहीं? इस प्रकार मेरा मन दोलायमान हो रहा है सो आप मेरे मन को किसी निश्चय में स्थिर कीजिए। हे परमपिता परमेश्वर! इसके अतिरिक्त मैंने आज रात्रि के अंतिम भाग में सोलह स्वप्न देखे हैं उनका फल क्या है? सो यह सब मैं आपकी दिव्यध्वनि से सुनना चाहता हूँ।"

यद्यपि निधियों के अधिपति चक्रवर्ती भरत उसी समय प्रगट हुए अपने अवधिज्ञान से उन प्रश्नों का फल जानने में निपुण हैं। फिर भी विनय गुण की अधिकता से तथा सभा में सभी लोग इन बातों को अच्छी तरह से जान लेवें, इसी अभिप्राय से वे प्रश्न कर रहे हैं। उनका प्रश्न होने के बाद जगद्गुरु ऋषभदेव भगवान् की दिव्यध्वनि खिरने लगती हैं। भगवान् कहते हैं-

"हे वत्स! जो तूने द्विजों की पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन। हे आयुष्मन् ! जो तूने इन गृहस्थों की रचना की है सो जब तक कृतयुग की स्थिति रहेगी तब तक ये उचित आचार का पालन करते रहेंगे किन्तु कलयुग में ये सदाचार से च्युत

होकर मोक्षमार्ग के विरोधी बन जायेंगे। यद्यपि यह सृष्टि कालांतर में दोष का बीजरूप है। तथापि धर्मसृष्टि का उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इनका परिहार करना भी अच्छा नहीं है। यह तो ब्राह्मण वर्ण की स्थापना का उत्तर हुआ, अब स्वप्नों का फल सुनो।

१. प्रथम स्वप्न में जो तुमने 'तेईस सिंह अकेले पृथ्वी पर विहार कर पर्वत पर चढ़ गये' ऐसा देखा है उसका फल यह है कि-महावीर स्वामी को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी।

२. दूसरे स्वप्न में 'अकेले सिंह के बच्चे के पीछे चलते हुए हरिणों का समूह' देखा है। उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी हो जावेंगे।

३. 'बड़े हाथी के योग्य भार को घोड़े की पीठ पर लाद देने से 'उसकी पीठ झुक गई है'। इस तृतीय स्वप्न का फल यह कहता है कि पंचमकाल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। कोई मूलगुण और उत्तरगुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करने में आलसी हो जायेंगे। कोई उन्हें मूल से ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मन्दता, कुछ अतिचार आदि लगा देंगे।

४. चतुर्थ स्वप्न में 'बकरों का समूह सूखे पत्तों को खा रहा है।" इसे देखने का यह फल समझो कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे।

५. 'हाथी के कन्धे पर वानरों के देखने से' यह फल है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रियवंश का उच्छेद हो जाएगा और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे।

६. 'कौवों के द्वारा उल्लू का त्रास दिया जाना देखने से' यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य पाखण्डियों के समीप जायेंगे।

७. 'नाचते हुए बहुत से भूतों के देखने से' प्रजा के लोग नामकर्म आदि कारणों से व्यन्तरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे।

८. 'तालाब के चारों ओर पानी भरा है किन्तु मध्य का भाग सूख गया है' ऐसा देखने का यह फल है कि धर्म आर्य-खण्ड से हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ निवासी लोगों में ही रह जावेगा।

९. 'धूलि से मलिन रत्नों की राशि' देखने से पंचमकाल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे।

१०. आदर सत्कार से जिसकी पूजा की गई है ऐसा कुत्ता नैवेद्य खा रहा है'। इसका यह फल है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर पाएंगे।

११. 'ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार' देखने से लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं।

१२. परिमण्डल से घिरे हुए चन्द्रमा के देखने से यह समझो कि पंचमकाल के मुनियों में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं होगा।

१३. परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों को देखने से यह सूचित होता है कि पंचमकाल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे।

१४. सूर्य मेघों के आवरण से ढक गया है ऐसा स्वप्न देखने का यह फल होगा कि पंचमकाल में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होगा।

१५. छाया रहित सूखा वृक्ष देखने से यह सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जावेगा।

१६. 'जीर्ण पत्तों का समूह' देखने से यह सूचित हो रहा है कि महा औषधियों का रस नष्ट हो जायेगा, वे नीरस हो जाने से रोगादि को नष्ट करने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकेंगे।

ऐसे फल देने वाले इन स्वप्नों को तू दूरविपाकी-बहुत समय बाद फल देने वाले समझ, इसलिए इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पंचमकाल में होगा। हे वत्स! मुझसे इन स्वप्नों का यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नों की शांति के लिए धर्म में अपनी बुद्धि कर।"

महाराज भरत गुरुदेव के वचन सुनकर सन्देह मन से रहित अपने चित्त को निर्मल करके बहुत ही प्रसन्न होते हैं। पुनः भगवान् को बार-बार नमस्कार करके तथा बार-बार पूछकार बड़ी कठिनाई से वहाँ से वापस लौटते हैं। यद्यपि उनकी इच्छा प्रभु के चरणों को छोड़कर आने की नहीं होती है फिर भी वे अपने सार्वभौम राज्य के संचालन आदि कार्यों के लिए घर वापस आ जाते हैं।

अयोध्या में प्रवेश कर महाराज भरत खोटे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्रदेव का महाअभिषेक, उत्तम पात्रों को आहारदान आदि पुण्य क्रियाओं से शांतिकर्म करते हैं। अनेक जिनबिम्ब और जिनमंदिरों की रचना कराकर कल्पवृक्ष नाम का बहुत बड़ा यज्ञ करते हैं। अनेक श्रावकोचित क्रियाओं को करने से उस समय चक्रवर्ती भरत गृहस्थों मे मुख्य गिने जाते हैं

(२६)

भगवान् ऋषभदेव समवसरण में विराजमान हैं और अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा अनन्त भव्यजीवों का अनुग्रह कर रहे हैं। उनकी दिव्यध्वनि प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अर्धरात्रि में छह-छह घड़ी पर्यंत खिरती हैं तथा गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र के प्रश्न के अनुसार अन्य समय में भी खिरती हैं। बिना इच्छा के ही भगवान् का उपदेश होता है तथा बिना इच्छा के ही श्रीविहार होता है। जब भगवान विहार करते हैं तब समवसरण विघटित हो जाता है। भगवान् आकाश में अधर विहार करते हैं देवगण उनके चरण कमलों के नीचे दिव्य सुगन्धित सुवर्णमय कमलों की रचना करते चले जाते हैं।

सम्पूर्ण आर्य खण्ड के कौशल, अयोध्या, कुरुजांगल-हस्तिनापुर, अंग, बंग, चंपापुरी, आन्ध्र, कर्नाटक, आदि सर्व देशों में विहार कर चुके हैं। उनके साथ वृषभसेन आदि चौरासी गणधर हैं। उनके नाम- १. वृषभसेन २. कुंभ ३. दृढ़रथ ४. शतधनु ५. देवशर्मा ६. देवभाव ७. नन्दन ८. सोमदत्त ९. सूरदत्त १०. वायुशर्मा ११. यशोबाहु १२. देवाग्नि १३. अग्निदेव १४. अग्निगुप्त १५. मित्राग्नि १६. हलभृत १७. महीधर १८. महेन्द्र १९. वसुदेव २०. वसुंधर २१. अचल २२. मेरु २३. मेरुधन २४. मेरुभूति २५. सर्वयश २६. सर्वयज्ञ २७. सर्वगुप्त २८. सर्वप्रिय २९. सर्वदेव ३०. सर्वविजय ३१. विजयगुप्त ३२. विजयमित्र ३३. विजयिल ३४. अपराजित ३५. वसुमित्र ३६. विश्वसेन ३७. साधुसेन ३८. सत्यदेव ३९. देवसत्य ४०. सत्यगुप्त ४१. सत्यमित्र ४२. निर्मल ४३. विनीत ४४. संवर ४५. मुनिगुप्त ४६. मुनिदत्त ४७. मुनियज्ञ ४८. मुनिदेव ४९. मुनिगुप्त ५०. मित्रयज्ञ ५१. स्वयंभू ५२. भगदेव, ५३. भगदत्त ५४. भगफल्गु ५५. गुप्तफल्गु

५६. मित्रफल्गु ५७. प्रजापति ५८. सर्वसंघ ५९. वरुण ६०. धनपालक ६१. मद्यवान ६२. तेजोराशि ६३. महावीर ६४. महारथ ६५. विशालाक्ष ६६. महाबल ६७. शुचिशाल ६८. वज्र ६९. वज्रसार ७०. चन्द्रचूल ७१. जयकुमार ७२. महारस ७३. कच्छ ७४. महाकच्छ ७५. नमि ७६. विनमि ७७. बल ७८. अतिबल ७९. भद्रबल ८०. नन्दी ८१. महाभागी ८२. नन्दिमित्र ८३. कामदेव और ८४. अनुपम ये। सभी गणधर सर्व ऋद्धियों से विभूषित और मनः पर्ययज्ञान से सहित हैं, चार हजार सात सौ पचास पूर्व ज्ञानधारी हैं, चार हजार सात सौ पचास शिक्षक मुनि हैं, नौ हजार अवधिज्ञानी हैं, बीस हजार छह सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक हैं और बारह हजार सात सौ पचास वादी मुनि हैं, ये सब चौरासी हजार मुनिराज निरन्तर प्रभु की वंदना कर रहे हैं। ब्राह्मी-सुन्दरी आदि तीन लाख पचास हजार आर्यिकाएँ हैं। दृढ़व्रत आदि तीन लाख श्रावक और सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाएँ हैं। भवनवासी आदि चार प्रकार के असंख्य देव-देवियाँ प्रभु के चरण कमलों का स्तवन कर रहे हैं। अगणित तिर्यंच जीव वहाँ बैठे हुए हैं। यह सब क्रूर हिंसक भाव को छोड़कर शान्त भाव से प्रभु का उपदेश सुन रहे हैं। भगवान् एक लाख वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्ष पर्यंत पृथ्वी पर श्री विहार कर धर्मोपदेश कर चुके हैं। अब मात्र आयु के चौदह दिन शेष रह गये हैं तब पौषमास की पूर्णिमा के दिन कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हो जाते हैं।

उसी दिन रात्रि में भरत महाराज स्वप्न में देखते हैं कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया। उसी दिन युवराज अर्ककीर्ति भी स्वप्न में देखते हैं कि महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्म

रूपी रोग को नष्ट कर फिर स्वर्ग को जा रहा है। उसी दिन गृहपति देखते हैं कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगों को अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग को जाने के लिए तैयार हुआ है। प्रधान मंत्री देखते हैं कि एक रत्नद्वीप अनेक इच्छुक लोगों को रत्नों का समूह देकर अब आकाश में जाने के लिए उद्यत हो रहा है। सेनापति जयकुमार देखते हैं कि एक सिंह वज्र के पींजड़े को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने के लिए तैयार हो गया है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य देखते हैं कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित कर ताराओं सहित जा रहा है। सोती हुई सुभद्रा महारानी भी स्वप्न में देखती हैं कि यशस्वती और सुनंदा के साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देर तक शोक कर रही है। बनारस के राजा चित्रांगद भी घबराहट के साथ स्वप्न देखते हैं कि सूर्य पृथ्वी तल को प्रकाशित कर आकाश की ओर उड़ा जा रहा है।

इस प्रकार भरत आदि सभी प्रमुख लोग स्वप्न देखते हैं पुनः सुर्योदय होते ही सब अपने-अपने पुरोहित से स्वप्न का फल पूछते हैं। पुरोहित कहते हैं—

"ये स्वप्न, 'भगवान् ऋषभदेव सभी कर्मों को नष्ट कर अनेक मुनियों के साथ मोक्ष जाने वाले हैं।' ऐसी सूचना दे रहे हैं।"

इस प्रकार पुरोहित फल सुना ही रहे हैं कि इतने में ही आनन्द नाम का एक किंकर आकर महाराज भरत से कहता है—

"राजाधिराज! भगवान् ऋषभदेव ने अपनी दिव्य-ध्वनि का संकोच कर लिया है इसलिए संपूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा मालूम पड़ रहा है कि मानो सूर्यास्त के समय निमीलित कमलों से युक्त सरोवर ही हो।"

यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगों के साथ कैलाश पर्वत पर पहुँच जाते हैं। वहाँ आकर वे भगवान् की तीन प्रदक्षिणाएँ देते हैं, स्तुति करते हैं और भक्तिपूर्वक अपने हाथ से महामह नाम की पूजा करते हुए वे चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान् की सेवा करते रहे हैं।

भगवान् ऋषभदेव पूर्व दिशा की ओर मुँह कर अनेक मुनियों के साथ पर्यंकासन से विराजमान हैं। माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान् तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के शुक्ल ध्यान में तीनों योगों का निरोध करते हैं पुनः अंतिम गुणस्थान में ठहर कर पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल में चौथे व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम के शुक्ल-ध्यान से अघातिया कर्मों का नाश कर देते हैं। उसी क्षण औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीर नाम कर्म की प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से सिद्धत्व पर्याय प्राप्त कर वे सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों से सहित होकर एक समय मात्र में ही लोक शिखर के अग्रभाग पर तनुवातवलय में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर वे नित्य, निरन्तर, अपने शरीर से कुछ कम, अमूर्तिक हुए अपनेआत्मसुख में तल्लीन होकर संसार को निरन्तर देखते हुए विराजमान हो जाते हैं।

उसी समय देवेन्द्रों काआसन कम्पायमान होते ही सभी देवेन्द्र, असुरेन्द्र और असंख्य देव-देवीगण भी वहाँ आ जाते हैं। सौधर्म इन्द्र तो पहले से ही वहाँ उपस्थित हैं। सभी मिलकर भगवान् के मोक्ष कल्याणक की पूजा करने की इच्छा से—

"यह भगवान् का शरीर अतिशय पवित्र है, उत्कृष्ट है, मोक्ष का

साधन है, स्वच्छ और निर्मल हैं[१]।"

यह विचार कर भगवान् के शरीर को बहुमूल्य पालकी में विराजमान करते हैं। अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि से उस शरीर का संस्कार करते हैं। उसमें चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थ और घी, दूध आदि से उस अग्नि को वृद्धिंगत करते हैं। उस समय उस अग्नि से जगत् में अभूतपूर्व सुगंधि फैल जाती है। देखते ही देखते प्रभु का वर्तमान शरीर आकार नष्ट हो जाता है वह उस समय दूसरी पर्यायरूप से परिणत हो जाता है।

उस काल में भगवान् के अग्निकुण्ड के दाहिनी ओर गणधरों के शरीर का संस्कार करने वाली अग्नि स्थापित की गई थी और बायीं ओर सामान्य केवलियों के शरीर का संस्कार करने वाली अग्नि स्थापित की गई थी। इस प्रकार इन्द्रों ने उस काल में पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नि स्थापित करके गन्ध पुष्प आदि से उन अग्नियों की पूजा की थी। यद्यपि अग्नि स्वयं पूज्य नहीं है तथापि तीर्थंकर आदि के शरीर का संस्कार करने वाली ये तीनों कुण्डों की अग्नि पूज्य मानी गई हैं जैसे कि भगवान् के स्पर्श से कैलाशपर्वत आदि पर्वत पूज्य माने गये हैं[२]। तदनन्तर वे

---

१. आदिपुराण पर्व ४७, श्लोक ३४३-३४६।

२. आदिपुराण, पर्व ४०, श्लोक ८९।

हवन के समय मध्य के चौकोन कुण्ड की तीर्थकरकुण्ड संज्ञा है, त्रिकोण कुण्ड की गणधर कुण्ड एवं गोल कुण्ड की केवली कुण्ड संज्ञा है। तीर्थंकर कुण्ड की अग्नि को गार्हपत्य, गणधर कुण्ड की अग्नि को आहवनीय और केवली कुण्ड की अग्नि को दक्षिणाग्नि कहते हैं।

सौधर्म इन्द्र आदि सभी देवगण पंचकल्याणक को प्राप्त होने वाले श्री ऋषभदेव के शरीर की भस्म को हाथ में लेकर-'

"हम लोग भी ऐसे ही हों।"

ऐसा सोचकर बड़ी भक्ति से यह भस्म अपने ललाट पर , दोनों भुजाओं में और वक्षःस्थल में लगाते हैं। वे सब उस भस्म को अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुराग के रस में तन्मय हे जाते हैं। तत्पश्चात् सब इन्द्रादि मिल करके बहुत ही हर्ष से 'आनन्द' नाम का नाटक करते हैं। पुनः श्रावकों को उपदेश देते हैं —

"हे सप्तम आदि प्रतिमा को धारण करने वाले सभी ब्रह्मचारियों! तुम लोग तीनों सन्ध्याओं में स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों की स्थापनाकरो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की स्थापना कर तीनों काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो। इस प्रकार गृहस्थों के द्वारा आदर सत्कार पाते हुए अतिथि बनो।"

इत्यादि प्रकार से कहकर देवगण भगवान् के निर्वाण कल्याणक महोत्सव के सम्पन्न कर पुनः-पुनः गणधर आदि गुरुओं को नमस्कार कर अपने-अपने स्वर्ग को चले जाते हैं।

(२७)

चक्रवर्ती भरत अतिशय प्रबुद्ध हैं, उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन है, अवधिज्ञान है, तथा वे देशसंयमी हैं। फिर भी उस समय इष्टवियोग से उत्पन्न हुई और स्नेहरूपी घृत से प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि उनके चित्त को जला रही है। अर्थातृ शोक से उनका भी चित्त व्याकुल हो रहा है यह देखकर श्रीवृषभसेन गणधर उनका शोक दूर करने की इच्छा से

भरत को उपदेश देते हुए अपने सभी के पूर्व भवों को प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

"हे भरत! सुनो, भगवान् ऋषभदेव के साथ हम लोगों का कई भवों से संबंध चला आ रहा है। आज भगवान् ने जैसे निर्वाणधाम को प्राप्त किया है वैसे ही हम सभी उनके पुत्र भी इसी भव से निर्वाण को प्राप्त करेंगे। मैं भगवान् के हमारे, आपके तथा आपके कतिपय भाइयों के और राजा श्रेयांस के पूर्वभवों को सुना रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो।

इसी जंबूद्वीप के विदेह क्षेत्र में एक गन्धिला नाम का देश है। वहाँ के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण की सुन्दरी नाम की रानी के जयवर्मा नाम का बड़ा पुत्र था। उसने विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली, परन्तु संयम के (भावसंयम के) प्रगट नहीं होने से यह उसी देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर 'अलका' नाम की नगरी में महाबल का विद्याधर राजा हो गया। वहाँ उसने स्वयंबुद्ध मंत्री के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त कर आष्टान्हिक पर्व में जिनपूजा करके समाधिमरण से शरीर छोड़ा, उसके प्रभाव से स्वर्ग में ललितांग नाम का देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर राजा वज्रजंघ हुआ। पुनः दान के प्रभाव से मरण कर उत्तकुरु भोगभूमि में आर्य हो गया। वहाँ ऋद्धिधारी मुनि से सम्यक्तव प्राप्त कर अंत में मर कर स्वर्ग में 'श्रीधर' देव हुआ। पुनः सुविधि राजा हुआ, इसके बाद अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हो गया। अनन्तर नवमें भव में राजा वज्रनाभि हुआ। वहाँ पर संयम धारण कर और तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो गया। वे ही अहमिंद्र यहाँ भगवान् ऋषभदेव हुए हैं।

अब राजा श्रेयांस के भवों को कहता हूँ। पूर्वधातकी खंड में गंधिला देश के पलाल नामक गांव में एक गृहस्थ की पुत्री धनश्री थी। वह कुछ पुण्य के उदय से पुनः उसी देश के पाटली गांव के एक वणिक की निर्नामिका नाम की पुत्री हो गई, वहाँ उसने 'पिहितास्रव' नाम के महामुनि से जिनेंद्रगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान नाम के व्रतों को ग्रहण कर विधिवत् उपवास किया उससे वह कन्या स्वर्ग में स्वयंप्रभा नाम की देवी होकर भगवान् वृषभदेव के जीव ललितांग देव की प्रिय वल्लभा हुई। वहाँ से चयकर राजा वज्रजंघ की रानी श्रीमती हो गई। इन्हीं वज्रजंघ और श्रीमती नेचारणयुगल मुनियों को आहार दान दिया था। जिसका स्मरण राजा श्रेयांस को भगवान् के आहार दान के समय हो आया था। पुनः यह रानी श्रीमती दान के प्रभाव से भोगभूमि में उन्हीं वज्रजंघ आर्य की पत्नी हो गई। वहाँ पर मुनिराज से सम्यक्त्व प्राप्त कर स्त्रीपर्याय से छूटकर वह आर्या स्वर्ग में स्वयंप्रभ देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर सातवें भव में केशव हुआ, आठवें भव में अच्युत स्वर्ग की प्रतीन्द्र हुआ, नवमें भव में धनदत्त हुआ, दशवें भव में अहमिंद्र हुआ पुनः ग्यारहवें भव में राजा श्रेयांस होकर दान तीर्थ का प्रवर्तक हुआ है।

हे राजन् ! आपके भी नव भवों को कहता हूँ। इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का देश है। उसमें एक प्रभाकारी नाम की नगरी है। वहाँ का राजा अतिगृद्ध अपने नाम के अनुसार ही विषयों में अति आसक्त था। उसने अधिक आरंभ और परिग्रह में फँसकर नरकायु बाँध ली। अन्त में मरकर चौथे नरक में चला गया। वहाँ दुःखों को भोगकर वहाँ से निकला तब यहाँ मध्यलोक में उसी

प्रभाकरी नगरी के समीप ही एक पर्वत पर व्याघ्र हो गया चूँकि उसने राजा की पर्याय में उसी पर्वत पर बहुत सा धन गाड़ रखा था उसी संस्कार से वह उसी पर्वत पर रहा करता था।

एक दिन उस नगरी के राजा प्रीतिवर्धन कारणवश वहाँ पर्वत पर ठहरे थे। उन्होंने वहीं पर पिहितास्रव नाम के एक मासोपवासी महामुनि को आहार दान दिया। उसके फल से वहाँ पर देवों ने पंचाश्चर्य बरसाये। उस समय वहाँ देवदुन्दुभि आदि को सुनकर उस व्याघ्र को जातिस्मरण हो गया। जिससे उसने शान्तभाव धारण कर शरीर से ममत्व छोड़कर सल्लेखना धारण कर ली। धर्म के प्रेम से उन महामुनि ने भी आकर उसे विधिवत् सल्लेखना दे दी और राजा प्रीतिवर्धन को उसकी सेवा करने का आदेश देकर वे विहार कर गये। वह व्याघ्र संन्यासविधि से मरकर स्वर्ग में दिवाकर प्रभ नाम का देव हो गया। पाँचवे भव में वही देव राजा वज्रजंघ का मतिवर नाम का मंत्री हो गया। वहाँ पर तपश्चरण करके छहे भव में अहमिन्द्र हो गया। सातवें भव में सुबाहु हुआ, आठवें भव में अहमिन्द्र हुआ। पुनः नवमें में वहीं अहमिन्द्र का जीव तू भरत चक्रवर्ती हुआ है।

जिस समय राजा वज्रजंघ वन में चारणयुगल मुनियों को आहार दे रहे थे। उस समय उनके मतिवर नाम के मंत्री, अकंपन नाम के सेनापति, आनन्द नाम के पुरोहित और धनमित्र नाम के सेठ थे वे चारों भी आहार देख रहे थे। उसी समय नेवला, सिंह, वानर, और सूकर ये चार पशु भी बड़े ही भक्ति भाव से मुनिराज का आहार देख रहे थे। इन चारों पशुओं ने भी आहारदान की अनुमोदना से महान् पुण्य बंध लिया था। आयु के अंत में वे चारों ही मरकर भोगभूमि में आर्य हो गये थे तथा

वे मंत्री सेनापति आदि भी उसी भव में दीक्षा लेकर अंत में संन्यास से मरणकर अहमिन्द्र हो गये थे। उनमें से मतिवर मंत्री के जीव तुम भरत हुए हो। अकंपन सेनापति का जीव ही कई भवों बाद भगवान् वृषभदेव का द्वितीय पुत्र बाहुबली हुआ है। आनन्द नाम के पुरोहित का जीव ही मैं भगवान् का तृतीय पुत्र वृषभसेन होकर भगवान् का ही प्रथम गणधर हुआ हूँ। धनमित्र सेठ का जीव भगवान् का पुत्र अनन्तविजय होकर उन्हीं का गणधर हुआ है। आहार देखने वाले सिंह, नेवला, वानर और सूकर के जीव भी इस भव में भगवान् के ही पुत्र हुए हैं।

हम और आप सभी आठ दश भवों तक भगवान् के साथ ही देव और मनुष्य के सुखों का अनुभव करते रहे हैं। हम सभी उन्हीं के पावन तीर्थ में कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसलिए हे भरत! संसार की स्थिति का विचार करने में कुशल होते हुए तुम आज खिन्न हृदय क्यों हो रहे हो? भगवान् ऋषभदेव तो आठों कर्मों को नष्ट कर अनुपम अविनाशी सौख्य को प्राप्त कर चुके हैं फिर भला संतोष के स्थान पर विषाद क्यों करना? पूज्य पिता का वियोग हो जाने से यदि तुम शोक करते हो तो बताओ ये इन्द्रादि सभी देवगण जन्म से पहले से ही भगवान् की अतिशय सेवा कर रहे थे पुनः ये उनके शरीर को जलाकर आनन्द नृत्य महोत्सव क्यों कर रहे थे?

यदि तुम सोच रहे हो कि अब यह भगवान् हमें नेत्रों से दिखाई नहीं देंगे तो भी वे भगवान् अब हृदय में विद्यमान हैं। तुम अपने हृदय में सदैव उनको देखते रहो। हे निधिपते! अब तुम शीघ्र ही शोकरूपी अग्नि को निर्मल ज्ञानरूपी जल से शांत करो। देखो, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि होना यह तो संसार का स्वभाव ही है।" इत्यादि प्रकार से श्री

वृषभसेन गणधर से संबोध प्राप्त कर महाराज भरत अपने मन के शोक को दूर कर शांत चित्त हो पुनः-पुनः सभी गुरुओं के चरणों में प्रणाम करते हैं पुनः अपने हृदय में भगवान् के प्रतिबिंब को विराजमान करके उनके पंचकल्याण वैभव और अनुपम गुणों का अतिशयरूप से चिंतवन करते हुए अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान कर देते हैं।

भगवान् ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व की थी। उसमें बीस लाख वर्ष पूर्व तक उनका कुमार काल रहा है। तिरेसठ लाख वर्ष पूर्व तक राज्यकाल रहा है। दीक्षा लेने के बाद छद्मस्थ काल एक हजार वर्ष का था, पुनः प्रभु का केवलीकाल एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व वर्ष प्रमाण रहा है।

जब चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह काल शेष रह गया था तभी भगवान् मोक्ष को चले गये थे।

इस तरह प्रथम तीर्थंकर तृतीय काल में ही जन्मे हैं और तृतीय काल में ही मोक्ष गये हैं। इनके शरीर की अवगाहना पाँच सौ धनुष (२००० हाथ) प्रमाण थी, शरीर का वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के समान था और इनका चिह्न वृषभ-बैल का माना गया है।

इस युग के आदि में जन्म लेकर प्रभु ने प्रजा को असि, मषि, कृषि, शिल्प, विद्या और वाणिज्य इन छह प्रकार की आजीविका का उपाय बताया, पुनः श्रावकों की देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह क्रियाओं का तथा सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह प्रकार की मुनियों की क्रियाओं का उपदेश देकर मोक्षमार्ग का विधान किया था। इसलिए वे प्रभु ऋषभदेव 'आदिब्रह्मा' युग स्रष्टा, युगादिपुरुष, विधि और विधाता

आदि नामों से पुकारे गए हैं। ऐसे ये 'आदिब्रह्मा' भगवान् आदिनाथ महाराज नाभिराज के पुत्र होकर भी स्वयंभू हैं, समस्त परिग्रह को त्याग करने के बाद भी सबके स्वामी हैं और स्वयं किसी को गुरु न बनाने पर भी तीन लोक के एक गुरु हैं। वे 'आदिब्रह्मा' हम सबकी तथा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करें और सबको सुख-शांति प्रदान करें। उनका यह लोकोत्तर चरित्र भी युग-युग तक भव्य जीवों के शिवपथ को प्रशस्त करता हुआ युग-युगों तक जयशील होता रहे।

इति शं भूयात् ।